

मन की आँखें खोल



नलिनी काले

प्रस्तावना

समर्थ संप्रदाय में स्वर्गीय विनायक चिंतामणी केलकरजी का नाम बहुत ही सम्मानपूर्वक लिया जाता है। विशेषतः गोंदवलेकर महाराज परिवार से उनका बड़ा स्नेह रहा। पूजनीय गुरुदेव रानड़े के आशीर्वाद से वे मंडित थे। उनकी पुत्री श्रीमती नलिनी मनोहर काले ने अपने पूजनीय पिताश्री से अध्यात्मविद्या का पायस ग्रहण किया। पूर्वजन्म के सुसंस्कारों का प्रभाव और इस जन्म में परिवार से मिला आध्यात्मिक विचारधन इन दोनों का अपूर्व दर्शन उनके मनोबोध चिंतन में दिखाई देता है। समर्थजी की विभिन्न रचनाओं में मनोबोध यानि मनाचे श्लोक को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई। हिंदी भाषा में 'मनाचे श्लोक' पर काफी विद्वानों ने काम किया है। इन्दौर के समर्थभक्त श्री आलेकर महोदय ने स्वामी वरदानंद भारती के मनोबोध विवरण का हिन्दी अनुवाद किया। श्रीमती काले की यह पुस्तक अनुवाद स्वरूप न होकर चिंतनपर है। मनाचे श्लोक के हर श्लोक में चार चरण हैं। आदरणीय श्रीमती नलिनी काले ने हर चरण का सुंदर चिंतन अपनी इस पुस्तक 'मन की आँखें खोल' में प्रस्तुत किया है।

गुरु रामदासजी ने अपने विषय को स्पष्ट करने के लिए अनेक पौराणिक कथाओं का संक्षेप में उल्लेख किया है। श्रीमती काले ने यह सभी कथाएँ विस्तृत रूप में पेश की हैं। बीच बीच में आध्यात्मिक संकल्पनाओं की व्याख्या की है। उदा: चवालीसवें श्लोक में 'मौन' और 'मुनि', पचासवें श्लोक में 'काम' और 'उदासीन' शब्द, इक्यासिवें श्लोक में 'निजस्वरूप' आदि संकल्पनाओं का विवेचन किया है। हर श्लोक के विवेचन में उसकी प्रासंगिकता दिखाई दी है। आशा है कि सभी साधक मनोबोध के इस अद्वितीय आध्यात्मिक चिंतन – 'मन की आँखें खोल' का स्वागत करेंगे। अमराठी साधकों के लिए भी अब समर्थ रामदासस्वामीजी के विचारों का दालन खुल गया है। आशा है कि वे लोग भी अपना जीवन सार्थक करने के लिए अवश्य ही इस पुस्तक का मनन एवं चिंतन करेंगे। आदरणीय श्रीमती नलिनी काले जी ने समर्थ संप्रदाय की यह जो वाङ्मयीन सेवा की है इससे गुरु रामदास के कृपाशिर्वाद उनपर निरंतर बरसते रहेंगे।

सुनील चिंचोलकर

अजिंक्यनगर 'ब', हिंगणे खुर्द, पुणे ४११०५१

फोन : ०२०-२४३४८०७०

मो. : ०९४२३७४२४४४

मनोगत

बचपन से ही मुझे राष्ट्रगुरु श्रीसमर्थ रामदास रचित 'मनाचे श्लोक' का आकर्षण था परंतु जब मैंने 'पत्र द्वारा दासबोध अभ्यास' की परीक्षाएँ दी तो मुझे समर्थजी के समग्र वाङ्मय का अभ्यास करने की प्रेरणा मिली। 'सार्थ दासबोध' के साथ मैंने 'मनाचे श्लोक' का भी अध्ययन शुरू किया। मैंने पूज्यनीय श्री. अनंतराव आठवलेजी (स्वामी वरदानंद भारती) के 'मनोबोध' का अध्ययन किया। स्व. श्री. के. वि. बेलसरेजी के 'मनाचे श्लोक' के विवरण से भी मैं प्रभावित हुई।

अभ्यास करते समय ही हिंदी भाषी लोगों में समर्थ वाङ्मय का प्रसार हो यह विचार उदित हुआ और मैंने 'मन की आँखें खोल' का लेखन प्रारंभ किया। निवृत्त प्राचार्या डॉ. माया द्विवेदीजी ने उचित शब्दप्रयोग संबंधित मार्गदर्शन किया। मेरी देवराणी श्रीमती जयश्री काले ने प्रूफरीडिंग का कष्टदायी काम निष्ठापूर्वक सम्हाला। इनके साथ-साथ मेरी छोटी सहेली श्रीमती वर्षा फडणीस सहित मेरे सभी परिवारजनों और निकट संबंधियों की मैं सदैव ऋणी रहूँगी जिन्होंने सदा मुझे प्रोत्साहित किया। समर्थसाधक आदरणीय श्री सुनील चिंचोलकरजी ने प्रस्तावना लिखकर हमें आशिर्वाद दिया। माननीय श्री परलीकरजी ने भी आधुनिक भाषा-व्याकरण से अवगत करा के तथा अपना अभिप्राय देकर हमें प्रोत्साहित किया। मेरे पतिदेव स्व. श्री. मनोहर कालेजी की इच्छानुसार पुस्तक के प्रकाशन का बहुमूल्य कार्य मेरी पुत्री श्रीमती अंजलि लेले ने सम्हाला जिसके लिये मैं उसकी सराहना करती हूँ। मेरे छोटे भाई श्री वासुदेव विनायक केलकर को भी मैं धन्यवाद देना चाहूँगी जिन्होंने विशेष रुचि दिखाकर प्रकाशन के काम को योग्य दिशा में आगे बढ़ाया। मैं उन सभी की बहुत आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस पुस्तक के निर्माण कार्य में सहयोग दिया।

आशा है की समस्त पाठकों को यह पुस्तक उनके व्यक्तिगत और आध्यात्मिक जीवन में उचित मार्गदर्शन करेगी।

धन्यवाद।

नलिनी काले

जे १९, गुजैनी, कानपुर २२

मो. : ०९४१५१००८९४

अभिप्राय

श्रीमती नलिनी मनोहर काले द्वारा हिंदी में किया गया समर्थगुरु रामदास कृत मनाचे श्लोक का विवरण पढ़ा। समर्थगुरु रामदास की जो चार रचनाएँ अति प्रसिद्ध हैं और समर्थभक्तों के लिए वे प्रेरणादायी तथा उनके आध्यात्मिक विचारों का ज्ञान करा देने वाली हैं वे हैं - १) दासबोध २) मनाचे श्लोक ३) करुणाष्टक ४) आत्माराम।

इनमें से पहली तीन रचनाओं पर मराठी में विपुल लेखन हुआ है और अपने अपने दृष्टिकोण से रामदास की वाणी की व्याख्या करने का भिन्न भिन्न लेखकों ने प्रयास किया है। मराठी में लिखी हुई पुस्तकों के अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। स्वामी वरदानंद भारती (प्राचार्य अनंत दामोदर आठवले) ने एक उत्कृष्ट पुस्तक 'मनोबोध' मराठी में लिखी है जिसमें उन्होंने रामदासकृत मनाचे श्लोक के २०५ श्लोकों की विस्तृत व्याख्या की है। उनकी इस मौलिक पुस्तक का श्री श्रीराम आलेकर ने हिंदी में अनुवाद करके हिंदी भाषकों को स्वामी वरदानंद भारती के विचारों से अवगत कराया है। अनेक समर्थभक्तों ने अपने अपने अनुभवों एवं अध्ययन के आधार पर रामदास के ग्रंथों का मर्म सामान्यजनों तक पहुँचाने का काम किया है। श्रीमती नलिनी मनोहर काले का काम इसी कोटि में आता है।

श्रीमती काले की यह पुस्तक स्वामी वरदानंद की पुस्तक से भिन्न है। यहाँ लेखिका ने मराठी के श्लोकों का हिंदी श्लोकों में रूपांतर नहीं किया है। चूँकि हिंदी और मराठी की एक ही लिपि अर्थात् देवनागरी लिपि है इसलिए मराठी का मूल श्लोक पढ़ने में हिंदी के पाठकों को विशेष कठिनाई नहीं होगी। श्लोक का मूल आशय समझाने के लिये लेखिका ने कठिन शब्दों का अर्थ देकर उक्त श्लोक का सरल हिंदी में अनुवाद दिया है और फिर उसके नीचे चार अनुच्छेदों में श्लोक की व्याख्या या विवरण प्रस्तुत किया है।

संस्कृत की एक प्रसिद्ध उक्ति है - 'कविः करोति काव्याणि अर्थ जानाति पंडितः।' अर्थात् कवि एक बार ही अपना काव्य लिख डालता है किंतु देश काल परिस्थिति के अनुसार पंडित उसका अर्थ लगाता है। कवि के काव्य का शब्दशः अर्थ लगाने के बजाय पंडित अपने दृष्टिकोण से उसका अर्थ लगाता है और ऐसा अर्थ लगाने का उसे पूरा अधिकार है। श्रीमती नलिनी 'पंडित' ने भी यही किया है। रामदास कृत 'मनाचे श्लोक' का उन्होंने अपने दृष्टिकोण

से अर्थ लगाया है इसलिए उसमें मौलिकता है । जैसे १३वें श्लोक का विवेचन करते समय 'बळे लागला काळ हा पाठिलागी' की व्याख्या श्रीमती काले ने निम्नलिखित शब्दों में की है । वे कहती हैं - "काल की सत्ता से ही सब घटनाएं घटती हैं । मनुष्य को सदैव ध्यान रहे कि काल के सामने किसी का वश नहीं चलता ।" यह मूल श्लोक की पंक्ति का शब्दशः अनुवाद नहीं है तो यह लेखिका के दृष्टिकोण से की गई उसकी व्याख्या है ।

लेखिका ने एक एक श्लोक का विवेचन एक एक पृष्ठ पर किया है । अतः यह पुस्तक भी श्लोकों की संख्या के बराबर २०५ पृष्ठों की बन गई है । लेखिका का वास्तव्य कई साल उत्तरप्रदेश (कानपुर) में रहा है । उन्होंने हिंदी के माध्यम से अध्यापन भी किया है । हिंदी पर उनका मातृभाषा मराठी के समान ही अधिकार है । अतः उनकी हिंदी पर कहीं भी मराठी की छया नहीं दिखाई देती । यदि लेखिका का नाम मालुम न हो तो यह पुस्तक हिंदीभाषी लेखक की ही लिखी है ऐसा प्रतीत होता है ।

'मनाचे श्लोक' को सुव्यवस्थित ढंग से हिंदी में 'मन की आँखें खोल' के स्वरूप में प्रस्तुत करने के लिये लेखिका को हार्दिक बधाई !

स. म. परलीकर

पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
फर्ग्युसन महाविद्यालय, पुणे

‘गणेश शारदा’ - वंदन

गणाधीश जो ईश सर्वा गुणांचा ।
मुळारंभ आरंभ तो निर्गुणाचा ।
नमू शारदा मूळ चत्वार वाचा ।
गमू पंथ आनन्त या राघवाचा।। १।।

गण = इन्द्रियों, चत्वार = चार, गमू = समझाना

इन्द्रियों के स्वामी सभी गुणों के आश्रयस्थान, निर्गुण के आदिकारण श्रीगणेशजी तथा चारों वाणियों की अधिष्ठात्री देवी श्रीशारदा को मैं प्रणाम करता हूँ और ईश्वरदर्शन के अनंत मार्ग पर ले चलता हूँ ।

विवेचन :

१) सभी मंगलकार्य हम गणेशजी की प्रार्थना से शुरू करते हैं । श्री समर्थरामदासस्वामी रचित यह मंगलाचरण है । इसमें उन्होंने देवताओं के अधिपति भगवान ‘श्रीगणेशजी’ और ज्ञानप्रणेती देवी ‘श्रीशारदा’ की वंदना की है ।

२) हम तीन प्रकार से ईश्वर के स्वरूप का अनुभव पाते हैं । प्रथम अनुभव है – मन और इन्द्रियों को प्रेरणा देने वाला हृदयस्थ चेतन आत्मा । दूसरा है – समूचे विश्व में व्याप्त त्रिगुणों को चेतना देने वाला विश्वात्मा और तीसरा – अनन्त ब्रह्माण्डों के निर्माण का सामर्थ्य रखनेवाला सच्चिदानंद परमात्मा । तत्पश्चात् निर्गुण क्षेत्र का प्रारंभ होता है जहाँ अनुभव वर्णन से परे हो जाता है ।

३) मनुष्य उपरोक्त अनुभवों की अभिव्यक्ति परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी इन चार वाणियों द्वारा करता है । घट घट में व्याप्त ओंकार रूपी शारदा ही मानवीय क्रियाकलापों की जननी है । इसी शारदा मां की उंगली पकड़कर मनुष्य अर्थमय जगत में प्रवेश करता है और इसी की प्रेरणा से अनुभव सम्पन्न होकर निर्गुण की पहचान कर सकता है । श्री समर्थ जी का अनन्त ‘राम’ ही सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म सगुण-निर्गुण परमात्मा है ।

४) मानवीय जीवन की यात्रा के कई पंथ हैं । परंतु सबसे महत्त्वपूर्ण है -इन्द्रियों से शुरू होकर हृदयस्थ आत्मा तक पहुँचने वाला मार्ग । यहाँ श्री समर्थ जी अपने अनुभवों के आधार पर आनन्दमयी अन्तरात्मा तक ले जाने वाला निश्चित मार्ग बता रहे हैं ।

मना सज्जना भक्ति पंथेचि जावे ।
तरी श्रीहरी पाविजे तो स्वभावे ।
जनी निंघ ते सर्व सोडोनि द्यावे ।
जनी वंघ ते सर्व भावे करावे ॥२॥

स्वभावे = अनायास, निंघ = निन्दित कर्म, वंघ कर्म = समाजोपयोगी कर्म

रे मन ! तू भक्तिमार्ग पर चल । इस मार्ग में ईश्वर के दर्शन सहज सुलभ हैं । सभी आत्मघातक समाजविरोधी त्याज्य कर्म छोड़कर निष्ठापूर्वक समाज में वंदित मानवोपयोगी श्रेष्ठ कर्तव्यों की पूर्ति के लिए अग्रसर हो ले ।

विवेचन :

१) जीवात्मा मूलतः परमात्मा का ही एक अंश है । इस संसार में जन्म लेते ही उसे अपना मूल स्वरूप विस्मृत हो जाता है । कैसी विडंबना है कि जन्म से मृत्यु तक आनन्दप्राप्ति की चेष्टा करने पर भी वह सच्चिदानन्द प्रभु से दूर ही रहता है । भक्ति यह दूरी समाप्त कर जीव को परमात्मा के समीप ले जाती है । इसीलिए रे मन ! तू भक्तिमार्ग पर ही चल ।

२) ईश्वर से विमुख जीव भक्तिमार्ग पर आते ही ईश्वर के सन्मुख हो जाता है । भक्ति के पथ पर, श्रद्धा के साथ उस अगाध शक्तिशाली ईश्वर के आगे नतमस्तक होकर, उसीकी प्रेरणा से जो राह दिखे, उस पर चलना कितना आसान है ! विशेष बात यह है कि इस मार्ग पर ईश्वर आप ही प्रेरणा और शक्ति दोनों प्रदान करते हैं ।

३) समाज में निन्दित कर्म का मनःपूर्वक त्याग करके देह से, मन से अपना हर कार्य पवित्र और शुद्ध रखते हुए समाजोन्नति की दिशा में अपना कर्तव्य निभाना यही पूजा है, भक्ति है, प्रभु की सच्ची सेवा है ।

४) भज् धातु से भक्ति शब्द बनता है । भक्ति अर्थात् भजन यानि प्रभु की लीलाओं का, गुणों का पुनःपुनः स्मरण करना, उनका गुणगान करना, अनुसरण करना और प्रभु की बनाई सृष्टि में अपना योगदान देना ! इस भक्तिरस के शुद्ध आस्वादन के लिए पवित्र एवं सात्त्विक मन आवश्यक है । अतः देह से, मन से अपना हर कार्य पवित्र और शुद्ध होना ही चाहिए, ऐसा श्रीसमर्थ जी का आग्रह है ।

प्रभाते मनी राम चिंतीत जावा ।
पुढे वैखरी राम आधी वदावा ।
सदाचार हा थोर सांडू नये तो ।
जनी तोचि तो मानवी धन्य होतो ॥३॥

प्रभाते = प्रातः = सूर्योदय से एक घंटा पूर्व का समय, सदाचार = शुद्ध आचरण, वैखरी = उच्च स्वर में

प्रातः काल शुद्ध मन से प्रभु-चिंतन करना चाहिए । हर दिन ईश्वर - भक्ति से शुरू होना चाहिए । सदाचरण ही श्रेष्ठ धर्म है । उसे जीवन में आत्मसात करना चाहिए । इससे मनुष्य का जीवन धन्य हो जाता है ।

विवेचन :

१) अंतःकरण में निरंतर परमेश्वर का वास ही भक्ति है । रात की नींद के उपरांत प्रातः जब आँख खुलती है तब हमारा मन प्रसन्न रहता है । उस समय हमें प्रभु की अथवा सद्गुरु की मानसपूजा करनी चाहिए । मानसपूजा करते समय परमेश्वर का चिंतन अपने आप होता है । जिस प्रकार सुबह ताकत की दवा लेने से दिनभर उसका प्रभाव बना रहता है, उसी प्रकार प्रातः प्रभु की मानस पूजा करने से “प्रभु मेरे पास ही है” यह भावना दिन भर साथ रहती है ।

२) प्रभुचिंतन के पश्चात मुख से प्रभु का नाम जपना चाहिए, भजन या स्तोत्र गाना चाहिए । अपनी वाणी किसी और काम में लगाने से पहले प्रभु नाम के उच्चारण से दिन भर के सभी कार्यों में प्रभु के विचार रहेंगे और फलस्वरूप सदाचार और सेवाव्रत से कार्य होंगे ।

३) मनुष्य को सदाचार कभी नहीं छोड़ना चाहिए । इस संसार में उसी का कल्याण होता है जो किसी भी कीमत पर सदाचार का त्याग नहीं करता । सदाचार का अर्थ - शुद्ध आचार यानि कि वे कर्तव्य जो समाज में श्रेष्ठ माने जाते हैं, वे कार्य जो स्वीकार्य हैं, जिन्हें करने से लोग आपको आदर की दृष्टि से देखते हैं ।

४) पवित्र देह में ही प्रभु चिंतन करने वाला मन रमता है । सदाचारी मनुष्य ही देह से, मन से पवित्र हो सकता है । ऐसे पवित्र मनुष्य का जीवन धन्य हो जाता है । पिछले और इस श्लोक में भक्ति और सदाचरण इन दोनों का मेल श्रीसमर्थ जी ने दिखाया है ।

मना वासना दुष्ट कामा नये रे ।
मना सर्वथा पापबुद्धि नको रे ।
मना धर्मता नीति सोडूं नको हो ।
मना अंतरी सार विचार राहो ॥४॥

रे मन ! हृदय से, अंतःकरण से विषय वासनाओं का त्याग कर और पापकर्म से, दुष्टकर्म से विमुख हो जा । नीति एवं धर्म को अपना ले । जीवन में जो श्रेष्ठ और अच्छा है उसका विचार कर । सदैव सदाचार के मार्ग पर चलकर प्रभु से नाता जोड़ ।

विवेचन :

१) लौकिक व्यवहार को प्रधान समझकर शिष्टाचार वश किए हुए नीतिधर्म के अवडम्बर और ईश्वर के लिए अपनाए हुए सदाचरण में बेहद अंतर है । मनुष्य को कोशिश करनी चाहिए कि उसका मन किसी हवस का शिकार ना बने । अगर कोई गलत सोच मन में पनपती है तो उसे कार्यान्वित न करे ।

२) दुष्ट वासनाएं और पापबुद्धि ही संसार में उपस्थित सभी अधर्म और अनीति की जड़ हैं । अपने स्वार्थ के लिए बिना वजह दूसरों का विनाश करना, दूसरों को दुख पहुँचाना, दूसरों को नुकसान पहुँचाना अथवा सज्जनों को परेशान करना आदि सभी बातें मनुष्य की दुष्ट प्रवृत्ति अथवा पापबुद्धि की द्योतक हैं । मन से उनको निकाले बिना प्रभु के दर्शन सम्भव नहीं है ।

३) भक्ति के अभ्यास में नीति के आचरण का प्राणों से भी अधिक ध्यान रखना पड़ता है । हमारा मन लोभ मोह में फँस सकता है । जिसका परिणाम अतिघातक हो सकता है । हो सकता है कि मोहवश हम परिजनों का पक्ष लेने को ही अपना कर्तव्य समझें और समाज का अहित कर बैठें ।

४) यही कारण है कि श्रीसमर्थजी यहाँ मनुष्य को विवेक से विचार करने को प्रेरित कर रहे हैं । सच - झूठ, अच्छा - बुरा, नीति - अनीति आदि का फैसला करने को कह रहे हैं । आध्यात्मिक अनुभव या प्रभु के दर्शन ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ मूल्य है और नैतिक जीवन ही उन्हें पाने की कुंजी है, इस बात का अंतःकरण में सतत स्मरण रखना चाहिए ।

मना पाप संकल्प सोडोनि द्यावा ।
मना सत्य संकल्प जीवीं धरावा ।
मना कल्पना ते नको वीषयांची ।
विकारे घडे हो जनी सर्व छी छी ॥५॥

पाप संकल्प = असत्य की इच्छा, सत्य संकल्प = सत्य स्वरूप की इच्छा,
विषय वासना = इन्द्रिय सुख प्राप्ति की इच्छा, उचित मार्ग = सन्मार्ग

रे मन ! जो क्षणिक है, अस्थायी है, उसकी इच्छा त्याग दे और सदैव शाश्वत सत्य की ओर चल । इंद्रियों द्वारा सुख प्राप्ति की कल्पना त्याग कर कर्तव्यपूर्ति के उचित मार्ग पर चल । इंद्रियसुखों के मायाजाल में फँसने वाले व्यक्ति अन्ततः समाज में उपहास का पात्र बनते हैं ।

१) भक्ति-मार्ग में प्रभु का विस्मरण करके दृष्टियों के पीछे भागना, नफरत या क्रोध में दूसरों को नीचा दिखाने की ठानना या फिर जो हमारे पास नहीं, उसे अनुचित मार्ग से हथियाना ! ये और ऐसे सभी अवांछित कार्य जो नहीं करने चाहिए पाप की परिभाषा हैं । पापकर्म करने से क्षणिक सुख शायद मिल सकता है परंतु मनःशान्ति नहीं !

२) मनुष्य को चाहिए कि वह सत्य का संकल्प करे । व्यर्थ की शानोशौकत और मौज मस्ती में ध्येयविरहित जीवन बिताने के बजाय कर्तव्य की पूर्ति के लिए अनुशासित जीवन बिताए जो परोपकार, त्याग, सेवा, अध्ययन और प्रभु नामस्मरण से मंडित हो ।

३) भला होगा अगर हम पाप संकल्प पैदा करने वाली वस्तुओं की कल्पना करना ही छोड़ दें । अपनी देह से सुख भोगने के विचार - विलासों से दूर ही रहें । ऐश्वर्य और सत्ता के सपने न संजोएं । ये सुख - विलास के विचार ही आगे अनगिनत दुखों को जन्म देते हैं ।

४) ऐहिक वस्तुओं पर केन्द्रित हुई वासना मनुष्य को विवेकभ्रष्ट बनाती है और अविवेकी मनुष्य वासनापूर्ति के लिए कुछ भी करने को विवश होता है । इससे समाज में उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं रहती । दुराचारी को कोई नहीं पूजता लेकिन देशभक्तों का सत्कार मरणोपरांत भी किया जाता है । आशीर्वाद साधुओं से मांगे जाते हैं, साहुकारों से नहीं । अतः मनुष्य को विचार और विवेक से उचित मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए ।

नको रे मना क्रोध हा खेदकारी ।
 नको रे मना काम नाना विकारी ।
 नको रे मना लोभ हा अंगिकारू ।
 नको रे मना मत्सरू दंभभारू ॥६॥

खेदकारी = दुःख देने वाला, काम = इन्द्रिय वासना, विकार = दोष,
 अंगिकारू = अपनाना, मत्सर = ईर्ष्या, दंभ = अहंकार

क्रोध हमेशा मनुष्य को दुःख ही प्रदान करता है । क्रोध में मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर काबू नहीं रख पाता । अतः हे मन ! कभी क्रोध के अधीन मत हो । कामविकार से मनुष्य में विविध दोष एवं रोग पनपते हैं । अतः उसे भी अपने मन में शरण न दो । मोह, ईर्ष्या और अभिमान से दूर ही रहो । उन्हें अपने जीवन से सदा के लिए मिटा दो ।

विवेचन :

१) क्रोध उत्पन्न होने के कई कारण हो सकते हैं पर है तो वह विफलता का ही द्योतक । क्रोध हमारे किसी काम का नहीं । अंत में वह न सिर्फ निराशा और खिन्नता में परिणित होता है बल्कि कर्तव्यपूर्ति के मार्ग में भी रोड़ा डालता है । यही कारण है कि श्री समर्थजी हमें क्रोध से बचने का सुझाव दे रहे हैं ।

२) काम यानि इन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की सुख-लोलुपता ! जो इच्छाएं आवश्यकता और कर्तव्य की सीमा से बाहर हैं वे काम कहलाती हैं । और इन्हीं लालसाओं की प्राप्ति में मनुष्य का अधःपतन होता है । अतः रे मन तू काम के अधीन मत रह !

३) रे मन ! तू लालच मत कर ! तुझे अगर कुछ अच्छा लगता है तो अपनी आवश्यकतानुसार उपभोग कर परंतु मर्यादा ना लांघ । अपने कर्तव्यों का निष्ठा से पालन कर । वही तुझे सफलता के उज्वल पथ पर ले जाएंगे ।

४) रे मन, तू ईर्ष्या और अभिमान दोनों से दूर रह ! ईर्ष्या अपने ही मन की क्षुद्रता और स्वभाव की नीचता का दर्पण है । अहंकार रखना यानि आप ही अपने शत्रु पालना । ये दोनों मन की शांति को मिटा देंगे, साथ ही नफरत पैदा करेंगे जिसका परिणाम विनाश के अलावा और कुछ नहीं । अतः रे मन, तू ऊँचा उठ और अपने विकारों पर विजय प्राप्त कर !

मना श्रेष्ठ धारिष्ट जीवी धरावे ।
 मना बोलणें नीच सोशीत जावे ।
 स्वये सर्वदा नम्र वार्चें वदावें ।
 मना सर्व लोकांसि रे नीववावें ॥७॥

धारिष्ट = धैर्य, नीच = अधम, निवविणे = संतुष्ट करना = शान्त करना,

रे मन अंतःकरण में असीम धैर्य धारण कर । नीच दुर्जन के कटु बोल शान्त चित्त से सह जा और स्वयं अति नम्र, मधुर भाषण कर, जिससे सब लोगों को परम संतोष मिले ।

विवेचन :

१) भक्ति की साधना यानि सहनशीलता की परिमीमा ! भक्त को सम्मान एवं अपमान दोनों का ही स्वागत करना है । यश और अपयश दोनों स्वीकार करने हैं । सुःख और दुःख में मन की शान्ति बनाए रखनी है । संयोग और वियोग स्थिर भाव से झेलने हैं । जिसका किसी भी परिस्थिती में परमेश्वर से विमुख न होने का निश्चय अटल है, उसीके पास असीम श्रेष्ठ धैर्य है ।

२) श्रीसमर्थजी का संदेश है कि भक्त में कटुवचन सहने की क्षमता होनी चाहिए । संकटों का सामना भले कोई आसानी से कर ले लेकिन कोई बिरला ही होगा जो अपनी बड़ाई से खुश न हुआ हो या निंदा से क्रोधित न हुआ हो ! भक्त का धैर्य ही उसे अनगिनत विषम परिस्थितियों में भी शान्त रखता है ।

३) जिन्हें भक्त होने की आकांक्षा है, उन्हें चाहिए कि भूल कर भी उनकी बोली से कोई व्यथित न हो, बल्कि सुनने वाले को सदैव प्रसन्नता का अनुभव हो, बल मिले और अपार सन्तोष प्राप्त हो । किसी का व्यर्थ गुणगान नहीं अपितु साधक को सदैव विनम्र वार्तालाप करते रहना है ।

४) प्रत्येक मनुष्य अपनी विचारशक्ति से अपने इर्द गिर्द भली बुरी विचार-प्रतिमाएं निर्माण करता है । मनुष्य जिस तरह की भाषा प्रयोग में लाता है उसी प्रकार का आकार इन प्रतिमाओं को प्राप्त होता है । नम्र एवं मधुर भाषा बोलने से सुविचार-प्रतिमाएं अति सुन्दर स्वरूप धारण कर सभी को संतोष प्रदान करती हैं । ये विचार प्रतिमाएं मनुष्य के निधन के पश्चात भी काफी समय तक विद्यमान रहती हैं । इसी कारण सन्तों के विचारों का प्रभाव सहस्रों वर्षों तक बना रहता है ।

देहे त्यागिता कीर्ति मागे उरावी ।
मना सज्जना हेचि क्रिया धरावी ।
मना चंदनाचे परी त्वां झिजावें ।
परी अंतरी सज्जना नीववावें ॥८॥

जिस प्रकार चंदन खुद घिसकर यानि स्वयं समाप्त होकर अपनी सुगंध और शीतलता सबको बांटता है उसी तरह हमें भी दूसरों की सेवा में अपना जीवन समर्पित कर देना चाहिए । सत्पुरुषों के अंतःकरण को इससे परम् सन्तोष प्राप्त होता है और यही स्वस्थ समाज का मापदण्ड है ।

विवेचन :

१) भक्ति-मार्ग पर अग्रसर होना है तो देह के प्रति आसक्ति त्याग कर प्रभु-प्रेम अधिकाधिक बढ़ाना चाहिए । देह से लगाव कम करने के लिए उसे दूसरों की सेवा में लाना ही उत्तम उपाय है । इससे दोहरा फायदा है - एक तो सभी का कार्य सम्पन्न हो जाता है और दूसरी बात यह कि हमारी मृत्यु के पश्चात भी लोग हमें याद करते हैं ।

२) सामान्यतः मनुष्य दूसरे व्यक्ति को विपत्ति में पड़ा देख तुरंत मुँह मोड़ लेता है क्योंकि उसे अपना धन कम होने का निरंतर भय लगा रहता है । इसी कारण समाज अनेक दुखों के बोझ तले दबा रहता है । वरना प्रभु की इस पृथ्वी पर अनाज की कोई कमी नहीं जो कोई भूख से मरे । हमें चाहिए कि हम निरंतर दूसरों के काम आएँ ।

३) श्रीसमर्थजी का संदेश है कि हमें चंदन की भांति परोपकारी एवं निःस्वार्थी जीवन व्यतीत करना चाहिए । इस क्षणभंगुर जीवन से प्रेम रखने की अपेक्षा अच्छे काम करते हुए इस दुनिया से विदा लेना अधिक अच्छा !

४) जिस कार्य को करने से सज्जनों के हृदय को शान्ति और संतोष मिलता हो वही कार्य श्रेष्ठ है । स्वस्थ समाज में कोई दुखी दरिद्र नहीं होता । ऐसे समाज में विद्वान अपनी विद्वत्ता का परिचय बाद में देते हैं, भलमनसाहत का पहले ! परोपकारी मनुष्य देखकर सन्तों को बड़ा संतोष होता है क्योंकि प्रभु-प्रेम का बीजारोपण करने के लिए उन्हें योग्य श्रेत्र मिल जाता है । परोपकारी व्यक्ति अगर दूसरों का काम करते समय प्रभु का स्मरण रखे तो उसके अंतःकरण में भक्ति का परमोच्च उत्कर्ष होने में देर नहीं लगेगी ।

नको रे मना द्रव्य ते पूढिलांचे ।
अति स्वार्थ बुद्धि न रे पाप सांचे ।
घडे भोगणें पाप ते कर्म खोटें ।
न होता मना सारिखे दुःख मोटे ॥९॥

पूढिलांचे = पुरखों के, खोटे = त्याज्य

रे मन, पूर्वजों द्वारा संचित द्रव्य का लालच मत कर । स्वार्थ में लिपटी हुई यह अभिलाषा इष्ट नहीं है । ऐसी स्वार्थ बुद्धि से पाप-संचय होता है । जिससे आज नहीं तो कल मन को बड़ी ठेस पहुँचेगी ।

विवेचन :

१) रे मन ! पूर्वजों की सम्पत्ति का लालच मत कर ! किसी और का अर्जित किया हुआ धन हमें मुफ्त में मिल जाए यह विचार ही स्वार्थी मन की पहचान है । ऐसी कामना जाने अनजाने पापकर्म की ओर खींचती है ।

२) पापसंचय का अर्थ है - ईश्वर प्रेम में बाधक कुसंस्कार ! देह को सुख देने वाली अनेक वस्तुएं धन से प्राप्त कर सकते हैं यह सोच कर सामान्य मनुष्य द्रव्य की अभिलाषा करता है । फिर द्रव्य की लालसा नीति अनीति के विवेक को ताक पर रख देती है । और मनुष्य किसी भी मार्ग से द्रव्य कमाने के पीछे लग जाता है । इससे उसके हाथों अनेक दुष्कर्म होते हैं । उसका पापसंचय बढ़ता जाता है और वह परमेश्वर से दूर होता जाता है ।

३) जो काम हमसे पाप की भागीदारी करवाता है वह निश्चित ही बुरा है । जिस काम को करने से हमारी अंतरात्मा को ठेस पहुँचती है, वह गलत है । ऐसा कोई काम जो भविष्य में हमें या हमारे परिजनों को गर्दन नीची करने पर मजबूर करे गलत है । हमें चाहिए कि हम किसी भी कीमत पर नीति नियमों का उल्लंघन न करें ।

४) अतिस्वार्थ पाप की जड़ है तो निःस्वार्थ पुण्य की । निस्वार्थ कर्म करके वांछित फल न मिले तो अधिक दुख न होगा । किन्तु स्वार्थ के लिए किए गए प्रयत्नों से अगर इच्छित फल न मिले तो मनुष्य को गहरा दुःख होता है । अपनी स्वार्थ लोलुपता अगर समाज में उजागर हो जाए तो असहनीय ग्लानी होती है और मनुष्य परिजनों से मुँह छिपाता फिरता है । मन की यातना अन्य दुखों और शारीरिक व्याधियों से कहीं अधिक कष्टप्रद है ।

सदा सर्वदा प्रीति रामी धरावी ।
दुखाची स्वये सांडी जीवी करावी ।
देहे दुःख ते सूख मानीत जावे ।
विवेके सदा स्वस्वरूपी भरावे ॥१०॥

सांडि = उपेक्षा

रे मन, सारे समय प्रभु से स्नेह बनाए रख ! अपने दुःखों की उपेक्षा करना सीख ! देह के दुःख में सुख मानना सीख और विवेक से नित्य तथा अनित्य का भेद जानकर अपना अंतःकरण प्रभुप्रेम से भरने का नित्य अभ्यास कर !

विवेचन :

१) किसी वस्तु से प्रेम उसके नित्य स्मरण से बढ़ता है । अतः प्रभुप्रेम उत्पन्न करने के लिए नित्य पूजा-अर्चना करनी चाहिए । अपने सारे काम ईश्वर का नाम लेकर करने चाहिए । इस प्रकार हम निश्चित रूप से उस अगाध सच्चिदानंद ईश्वर से संबंध जोड़ सकेंगे ।

२) बच्चों को खेलते समय चोट, पीड़ा, भूख-प्यास कभी नहीं सताती । उस समय आसानी से वे अपने शारिरिक कष्टों की उपेक्षा कर पाते हैं । मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरों की सेवा, भक्ति भाव में डूब कर और अपने सारे शारिरिक कष्टों की उपेक्षा करते हुए करे । यह अभ्यास निश्चित ही उसे ईश्वर के समीप ले जाएगा ।

३) हर एक मनुष्य को जीवन में देह दुःख भोगना पड़ता है जो उसे भाता नहीं ! अगर वह दुःख के विश्लेषण का समीकरण बदल दे तो भक्तिशिखर पर चढ़ने में मदद मिल सकती है । जैसे ऋण चुकाते समय गृहस्थी में अड़चने पैदा हो जाती हैं जिनका अफसोस रहता है पर साथ ही ऋण उतरने का आनंद भी मिलता है । वैसे ही अपनी इच्छा से देह दुःख भोगते समय कष्ट अवश्य होते हैं परंतु मोह से छुटकारा पाने का आनन्द भी प्राप्त होता है ।

४) आज मन की प्रवृत्ति ऐहिक वस्तुओं की ओर झुकी हुई है । यही कारण है कि हम अपने सत्य स्वरूप को नहीं पहचानते । श्रीसमर्थजी कहते हैं कि मन से दृष्य वस्तुओं को हटाने की चेष्टा के बदले उन्हें प्रभु-प्रेम से भरना ज्यादा आसान है । नैतिक आचरण और प्रभु स्मरण हमें मोह भुलाकर विवेक रखना सिखा देगा और हम चिर आनंद का अनुभव कर सकेंगे ।

जनों सर्व सूखी असा कोण आहे ।
विचारी मना तूं चि शोधूनि पाहे ।
मना त्वांचि रे पूर्व संचित केले ।
तया सारिखे भोगणे प्राप्त झाले ॥११॥

संचित = जमा किया हुआ

रे मन तुम स्वयं विचार करके देखो और बताओ कि क्या कोई भी मनुष्य सम्पूर्ण रूप से सुखी है ? सुख हो या दुख हो, जो भी हम भोगते हैं वे तो पिछले कर्मों का परिणाम है । पूर्व जन्मों के संचित कर्मों का फल ही हमें इस जन्म में भोगना पड़ता है ।

विवेचन :

१) सामान्य मनुष्य के जीवन में जब कोई दुखद घटना घटती है तो “मेरे ही हिस्से में यह दुःख क्यों” ऐसा प्रश्न उसके मन में उठता है । परंतु इस संसार में हर एक को सभी वांछित सुख प्राप्त नहीं हो सकते । कुछ न कुछ न्यून रहता ही है । यह सत्य एक बार हम जान जाएं तो फिर दुखों का बोझ हल्का हो जाता है ।

२) भक्त के लिए आवश्यक है कि जीवन में जो अनुभव उसे आते हैं उन पर स्थिर और शान्तचित्त से विचार करे तथा जीवन का सही अर्थ जाने । मानवीय जीवन सर्वथा अपूर्ण है । अपने प्रयत्नों की पराकाष्ठा दूसरों का दुःख कम करने के लिए करें ।

३) यह ब्रह्माण्ड ईश्वर के द्वारा निर्मित एक व्यवस्था है जो उसके न्याय और नियमों के अधीन है । जड़ और चेतन सभी के मिलेजुले गुणों अवगुणों से, साथ ही जो भले बुरे कार्य हम सभी करते आए हैं और कर रहे हैं, उनके परिणाम स्वरूप जो कुछ विश्व में होता है उसी का जो अंश हमारे हिस्से में आता है उसे ही संचित कहते हैं ।

४) जन्म से मृत्यु तक संचित के अनुसार सुख दुख भोगने पड़ते हैं । बिना कारण यानि हमारी समझ के बाहर रहे कारणों से जब दुख झेलना पड़ता है, विपत्ति आती है तब ऊपरोक्त विचार ही मन को शान्त एवं संयमित रखने के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं, और ये विचार ही अपने आस पड़ोस में रहने वालों के प्रति अपने मन में ईर्ष्या या द्वेष निर्माण होने से रोकते हैं ।

मना मानसी दुःख आणू नको रे ।
मना सर्वथा शोक चिन्ता नको रे ।
विवेके देहेबुद्धि सोडोनि द्यावी ।
विदेहीपणे मुक्ति भोगीत जावी ॥१२॥

रे मन, अंतर्मन में वृथा शोक न भर ! सारे समय चिंताग्रस्त जीवन न बिता ।
इस क्षणभंगुर जीवन और देह का मोह त्याग दे । विवेक से काम ले । विदेही बन
कर यानि देह से परे हटकर मुक्ति का आनन्द पा ।

विवेचन :

१) मानवीय जीवन में दुःख है इसमें संदेह नहीं ! किन्तु मनुष्य ने
मोहवश पैदा किया हुआ अनावश्यक दुःख बड़े पैमाने पर दिखाई देता है ।
उसको दूर करना संभव है । रे मन, व्यर्थ में चिंता पाल कर अपने आप को
इतना निर्बल न बना कि जो भी, जितना भी आनन्द मिल रहा है उसका
उपभोग ही न ले सको ।

२) दुख किस बात का ? भूत, भविष्य या फिर वर्तमान का ? जो बीत
गया उसके लिए शोक करना व्यर्थ है । जो हुआ नहीं उसके लिए अनावश्यक
चिंता करना अर्थहीन है और जो हो रहा है वह अनिवार्य है अतएव उसके लिए
खेद करना ठीक नहीं ।

३) “मैं देह ही हूँ” यह भावना अगर मन में दृढ़ हो गई तो जीवन की
ओर देखने की दृष्टि अति संकुचित हो जाएगी और फिर हम संबंधित
घटनाओं का उचित मूल्यांकन नहीं कर सकेंगे । उदा: - साहूकारी नष्ट होने
से एक आदमी रईस नहीं रहा पर इस कानून से कितने ही गरीब ऋणमुक्त हो
गए ! साहूकार ऊँचा उठ कर सोचे तो वह भी इस घटना से खुश रह
सकता है ।

४) विदेहावस्था में रहनेवाला मनुष्य अपने शरीर का सौतेली माँ के
समान ख्याल रखता है । उसे पक्का विश्वास होता है कि “शरीर उसका है
पर वह तो शरीर का नहीं है” । अतः शारीरिक सुखों पर उसका आनन्द निर्भर
नहीं होता । भक्त अपना शरीर प्रभु के अधीन कर देता है । प्रभु की
इच्छानुसार मिलने वाले सुख-दुख उसका शरीर भुगतता है परंतु उसे शोक,
चिंता या परेशानी नहीं होती । वह सारे सांसारिक पाशों से मुक्त रहता है ।

मना सांग पा रावणा काय झाले ।
अकस्मात् ते राज्य सर्वें बुडालें ।
म्हणोनि कुडी वासना सांडि वेगी ।
बळे लागला काळ हा पाठीलागी ॥१३॥

रे मन, जरा सोच ! रावण का क्या हाल हुआ था ! अपनी बुरी वासनाओं
के पीछे भागते हुए उसे सारे साम्राज्य से ही नहीं, अपने प्राणों से भी हाथ धोना
पड़ा ! अतः रे मन ! दुष्ट वासना त्वरित त्याग दे । ध्यान रख - काल किसी को
नहीं छोड़ता !

विवेचन :

१) रे मन, तुझे ज्ञात है कि रावण एक श्रेष्ठ तपस्वी ब्राह्मण था । पराक्रमी
होने के साथ ही वह ऐश्वर्यशाली साम्राज्य का अधिपति भी था । क्या नहीं था
उसके पास । फिर भी वह बुरी वासना का शिकार हुआ । और यही वासना
उसके सर्वनाश का कारण बनी !

२) रावण अन्त तक इस भ्रम में रहा कि उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़
सकता । वह जानता था कि वह गलत काम कर रहा है । परंतु गर्व में चूर वह
पापी अपनी नीच वासनाओं को काबू में न रख सका । देखते ही देखते उसका
सारा वैभव नष्ट हो गया । ऐश्वर्य से संपन्न सोने की लंका जलकर राख हो
गयी । और तो और उसे अपने प्राण भी गवाँने पड़े ।

३) रे मन, बुरी वासनाओं का शीघ्रता से त्याग कर ! समय कैसा भी हो,
अच्छे विचार मन में धारण करना प्रत्येक मनुष्य के हाथ में है । अपने अपने
भाग्य के अनुसार हर मनुष्य ऐश्वर्य का उपभोग करेगा अथवा विपत्तियों का
सामना करेगा । परंतु अगर अंतःकरण में प्रभुचिंतन स्थिर है तो उसका मन
सदैव शान्त रहेगा । सम्पत्ती की लालसा उसे पथभ्रष्ट न कर सकेगी !

४) काल का नियंत्रण सभी दृश्य वस्तुओं पर होता है । जिस प्रकार आज
का ऐश्वर्य कल तक बना रहेगा इसका कोई भरोसा नहीं, उसी तरह आज
खड़ा संकट कल न टले ऐसा भी नहीं ! शायद वह कल की सुनहरी किरण
का समाचार देने आया हो ! काल की सत्ता से ही सब घटनाएं घटती हैं ।
मनुष्य को सदैव ध्यान रहे कि काल के सामने किसी का वश नहीं चलता ।

जिवा कर्मयोगे जनी जन्म झाला ।
 परी शेवटी काळमूर्खीं निमाला ।
 महाथोर ते मृत्युपंथेचि गेले ।
 किती येक ते जन्मले आणि मेले ॥१४॥

कर्म = पूर्वकर्म, योग = संबंध = परिणाम, निमणें = मरना = नष्ट होना

कोई भी प्राणी जन्म-मृत्यु के कालचक्र से छुटकारा नहीं पा सका है । ये छोटा, वो बड़ा, ये अमीर, वो गरीब इसका विचार मृत्यु नहीं करती । पूर्वकर्म का जैसा संबंध होगा उसके अनुरूप हर एक जीव संसार में जन्म लेता है, और अंत में वह काल के मुँह में समा जाता है । संसार के सभी महान पुरुष भी अंततः मृत्यु को प्राप्त हुए । आज तक अनगिनत मनुष्यों ने जन्म लिया और सभी मृत्यु को प्राप्त हुए ।

विवेचन :

१) पूर्वकर्मों के फलस्वरूप जीव का जन्म होता है । जन्म की परिस्थितियाँ उसके वश में नहीं परंतु आज के दिन का कार्य काफी हद तक उसके बस में है । मनुष्य को हर पल यह याद रहना चाहिए कि उसके आज के कार्य ही उसे कल का दिन दिखाने वाले हैं ।

२) मृत्यु अपरिहार्य है । राजा-रंक, बलवान-निर्बल, श्रेष्ठ-कनिष्ठ किसी को मृत्यु नहीं छोड़ने वाली ! जो भी इस पृथ्वी पर आया है, उसका इस दुनिया से विदा होना निश्चित है । सिवाय मृत्यु के और किसी घटना की सत्यता शत प्रतिशत नहीं बताई जा सकती । हाँ, मृत्यु के भय से छुटकारा अवश्य पाया जा सकता है ।

३) मृत्यु की वास्तविकता को किसी के लिए भी नकारा नहीं जा सकता । महापुरुषों को भी मृत्यु की राह से ही गुजरना पड़ता है, बेशक वे उसको खुशी खुशी गले लगाते हैं । राम, कृष्ण जैसे सर्वश्रेष्ठ अवतार भी इसके अपवाद नहीं !

४) इस दुनिया में अनगिनत लोग आए और चले गए । मनुष्य को चाहिए कि सभी कार्यों को करते समय वह इस सत्य को स्मरण में रखे । सभी कार्य अगर हम प्रभु को समर्पित करें तो मृत्यु समय हमें कोई ग्लानि नहीं होगी और हम प्रसन्नचित्त होकर उस अंतिम सत्य को अपनाएंगे ।

मना पाहता सत्य हे मृत्युभूमि ।
 जिता बोलती सर्व ही जीव मी मी ।
 चिरंजीव हे सर्व ही मानिताती ।
 अकस्मात सांडूनिया सर्व जाती ॥१५॥

रे मन, यह संसार मृत्युलोक है यह सभी जानते हैं । परंतु जीते जी मनुष्य मृत्यु को भूल जाता है । और घमण्ड-अहंकार से बर्ताव करता है । हर एक व्यक्ति स्वयं को अमर मानता है । और जब काल आता है तो अकस्मात सब छोड़ के जाना पड़ता है ।

विवेचन :

१) सबसे बड़ा सच यही है कि “यह संसार मृत्युभूमि है” । यानि कि इस संसार में जो भी आज जीवित है वह निश्चित ही मृत्यु को प्राप्त होगा । फिर भी कितना अजीब विरोधाभास है कि मनुष्य किसी और बात को नहीं पर मृत्यु को ही भूल जाता है । मनुष्य की सारी चिंताएं उस कल के लिए होती हैं जिसका आना न आना अनिश्चित है !

२) मृत्यु का स्मरण न रहने से मनुष्य बड़े ही अहंकार में जीवन व्यतीत करता है । सारे समय वह ‘मैं और मेरा’ शब्दों का उपयोग करता रहता है । सारे काम वह स्वयं के अस्तित्व को ध्यान में रखकर करता है और भूल जाता है कि उसका अस्तित्व तो क्षणिक मात्र है । दुनिया की सारी समस्याएं हल हो सकती हैं अगर लोग इस एक कड़वे सच को ध्यान में रखें ।

३) मनुष्य अपने आप को अमर समझता है । आत्मा का अमरत्व वह देह पर मढ़ता है और इस भ्रम से उत्पन्न होने वाली गलत धारणा मनुष्य को धोखा दे जाती है । सभी लोग अपने व्यवहार कुछ ऐसे करते हैं मानो वे चिरंजीवी हैं, उनका इस पृथ्वी पर चिर-स्थायी निवास है । तभी अपने सुख-दुख का इंतजाम करने में व्यस्त रहते हैं । अगर यह सोचें कि किसी भी क्षण बुलावा आ सकता है तो शायद कुछ और करते नजर आएंगे ।

४) सिवाय मृत्यु के जीवन की सभी घटनाएं अनिश्चित रहती हैं । साथ ही गूढ़ बात यह है कि बड़े बूढ़े भी नहीं जानते कि कब, कहाँ और कैसे मृत्यु आनी है । प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य जो संसार की अनेक व्यवस्थाओं में उलझा हुआ था अकस्मात छोड़ कर चला गया । रे मन, मृत्यु का स्मरण रख कर जीना सीख !

मरे एक त्याचा दुजा शोक वाहे ।
 अकस्मात तो ही पुढे जात आहे ।
 पुरेना जनी लोभ रे क्षोभ त्यातें ।
 म्हणोनि जनी मागुता जन्म घेतें ॥१६॥

क्षोभ = चित्त की चंचलता = अशांत अवस्था, लोभ = लालच, आसक्ति

मनुष्य की मृत्यु पर उसके मित्र एवं संबंधी शोक मनाते हैं, भूल जाते हैं कि वे भी उसी राह पर खड़े हैं ! इस नश्वर कलेवर से और दृश्य वस्तुओं से आसक्ति छूटे नहीं छूटती ! आसक्ति के कारण ही मरते समय मनुष्य का मन अशान्त रहता है, इस संसार में उलझा रहता है । इसी कारण वह फिर से जन्म लेता है ।

विवेचन :

१) जानेवाले की याद में शोकाकुल होकर अपना कर्तव्य भुलाना कहाँ तक ठीक होगा ? मनुष्य इस होनी के लिए कदापि तैयार नहीं रहता जब कि वह जानता है कि काल पर किसी का वश नहीं !

२) छोटा हो या बड़ा इस संसार में जन्मा हुआ हर एक जीव आज नहीं तो कल मृत्यु को प्राप्त होता है । यही इस मर्त्य लोक का नियम है । जो मर गया उसके लिए दुःख करने वाले मनुष्य को भी उसी मार्ग से जाना है । इस वास्तविकता को ध्यान में रखना ही उचित होगा ।

३) अपनों की मृत्यु से दुःख होना स्वाभाविक है । परंतु व्याकुल होना मोह और परावलंबन का द्योतक है । हमारा स्वार्थ जानेवाले के साथ इतना जुड़ा होता है कि उसकी अनुपस्थिति में अभाव उत्पन्न हो जाता है, जीवनयापन के साधन समाप्त हो जाते हैं, खुशी का सामान चला जाता है ।

४) जो यहाँ से इस संसार को छोड़कर अचानक चला जाता है, क्या वह पुनः वापस आता ही नहीं ? श्रीसमर्थजी कहते हैं कि वह फिर से इस संसार में नया देह लेकर जन्म लेता है । सच बात तो यह है कि मृत्यु-समय मनुष्य देह तो त्याग देता है पर उसका मन परिजनों और सांसारिक वस्तुओं के मोहपाश में फंस जाता है । इसी कारण जीव मृत्यु उपरांत अवस्था में अधिक समय तक नहीं रहता बल्कि जहाँ मन की तृष्णा खींच रही थी उसी के आसपास वह पुनः जन्म लेता है । इस तरह जीवों को जन्म-मरण का चक्र भोगना पड़ता है ।

मनी मानव व्यर्थ चिंता वहाते ।
 अकस्मात होणार होऊनि जातें ।
 घडे भोगणे सर्व ही कर्मयोगें ।
 मतीमंद ते खेद मानी वियोगे ॥१७॥

मतीमंद = मूर्ख, मंद = जड़बुद्धि = मूर्ख

मनुष्य व्यर्थ चिंता करता फिरता है । होनी तो अटल है, भाग्य को कोई नहीं बदल सकता । जीवन में सबको अपने अपने पूर्वकर्मानुसार, सुख दुख झेलने पड़ते हैं । मूर्ख, अविवेकी लोग इससे व्यर्थ ही दुखी होते हैं ।

विवेचन :

१) मनुष्य काम करते समय सावधानी नहीं बरतता और पीछे पश्चात्ताप करता फिरता है कि अब आगे क्या होगा ? जो विचार, क्रिया का सहारा नहीं बन सकता वह व्यर्थ है । हम सिर्फ अपना कर्तव्य यथाशक्ति कर सकते हैं । पानी बरसेगा या नहीं ऐसी चिंता तो सिर्फ समय का अपव्यय मात्र है ।

२) मानव जीवन में आकस्मिक प्रतीत होने वाली और साथ ही सभी अन्य घटनाएं विविध शक्तियों से प्रभावित रहती हैं ।

अ) प्रकाश, उष्णता, आदि निसर्ग की अचेतन शक्तियां,
 आ) चेतना और देह की पिण्डपोषक क्रियाएं करने वाली जीवनशक्ति,
 इ) जीवन के सुख दुख सहने वाली मानसिक शक्ति,
 ई) मनुष्य को नीति, आदर्श एवं जीवनमूल्य सिखाती संस्कृति की शक्ति और

उ) जन्ममृत्यु एवं सुखदुखादि भोग देने वाली ईश्वरी शक्ति !

३) जो होना है वह होकर रहेगा । मानव के अपने पूर्व कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुख जीवन में आते रहेंगे । उन्हें प्रसाद समझ कर ग्रहण करना ही हितकारक है । अपना कर्तव्य भलीभांति सूझबूझ के साथ करना अपने अधिकार में है परंतु उसका वांछित फल हमारे वश में नहीं ।

४) बुद्धिहीन है वह जो शोक मनाता है । काम में त्रुटि बुद्धिहीनता की पहली निशानी है । जिस पर अपना बस नहीं उस घटना पर शोक मनाना बुद्धिहीन की दूसरी निशानी ! अपनी इच्छाओं के अनुरूप कार्य न होने पर क्रोध आना या निराश होना बुद्धिहीन की तीसरी निशानी ! मनुष्य को चाहिए कि वह फल की कामना किए बगैर कर्तव्य पूर्ति के लिए तत्पर रहे ।

मना राघवेवीण आशा नको रे ।
मना मानवाची नको कीर्ति तू रे ।
जया वर्णिती वेद शास्त्रे पुराणे ।
तया वर्णिता सर्व ही श्लाघ्यवाणे ॥१८॥

श्लाघ्यवाणे = योग्य = स्तुत्य

रे मन, प्रभु के सिवा अन्य किसी से आशा मत रख ! मनुष्य से कुछ अपेक्षा रखते हुए उसकी कीर्ति का बखान करना व्यर्थ है, बेकार है । गुणगान केवल राम का, प्रभु का करो । वही सुख देनेवाला एकमात्र सहारा है । वेद, शास्त्र, स्मृति, पुराण सभी ईश्वर का ही गुणगान करते हैं ।

विवेचन :

१) 'वासना-कामना त्याग दो' कहने भर से तो कामना छूटेगी नहीं ! अतः कामना रखनी ही है तो वह प्रभु की रखो । अन्य वासनाएं मनुष्य को दुःख पहुँचा सकती हैं । परंतु प्रभु की कामना सदैव सुख ही देती है क्योंकि प्रभु जैसा सामर्थ्यवान दाता और कोई दूसरा है ही नहीं !

२) कोई व्यक्ति व्यवहार में चाहे कितना भी कुशल क्यों न हो, है तो वह मनुष्य ही ! उसकी शक्ति की अपनी सीमाएं हैं, कुछ मर्यादाएं हैं जिसे वह चाह कर भी लांघ नहीं सकता । अतः उससे कुछ अपेक्षा करना या उस पर आश्रित रहना उचित नहीं है । ध्यान रखना चाहिए कि अच्छे कामों के लिए मनुष्य की स्तुति करते समय उसकी पूजा न करने लगे ।

३) भारतीय संस्कृति मूलतः अध्यात्म प्रधान है । अध्यात्म में प्रभुदर्शन जीवन का अंतिम लक्ष्य माना जाता है । हमारी प्राचीन धरोहर वेद, स्मृति, पुराण आदि में भी ईश्वर की महिमा का अनेक प्रकार से गुणगान किया गया है । मनुष्य को चाहिए कि वह उस अगाध ईश्वर को पहचानने की चेष्टा करे और उसकी इस सुन्दर सृष्टि में उसका अंश होने के नाते दिव्य कर्म करने का प्रयास करे ।

४) ईश्वर सद्गुणों की खान है । उसके गुणों का बखान करने से ईश्वर-दर्शन की कामना जागृत होती है । उसकी स्तुति, भजन करने से जो आनन्द मिलता है, शांति मिलती है वही उचित है । प्रभु का गुणगान मनुष्य को अच्छे कर्मों की ओर प्रेरित करता है ।

मना सर्वथा सत्य सोडू नको रे ।
मना सर्वथा मिथ्य मांडू नको रे ।
मना सत्य ते सत्य वाचे वदावे ।
मना मिथ्य तें मिथ्य सोडूनि द्यावे ॥१९॥

सत्य = स्वस्वरूप = ईश्वर, मिथ्य = असत्य = माया

रे मन, परमेश्वर ही सत्य है । सत्य का साथ कभी नहीं छोड़ना । दृश्य मिथ्या है, उसका प्रचार मत करो । सदा सत्य जो प्रभु है उसीके बारे में बोलना चाहिए । और जो असत्य है, माया है उससे दूर रहना चाहिए ।

विवेचन :

१) रे मन, सत्य से कभी अलग न होना । सभी परिस्थितियों में सत्य का साथ देना और झूठ को हमेशा के लिए अपने जीवन से विदा दे देना । सत्य ही ईश्वर है । जिसने सत्य की राह पकड़ी वही ईश्वर को प्राप्त करने के लायक बन सकता है ।

२) कभी समाज में अपने दोष छुपाने के लिए, कभी शारिरिक कष्टों से बचने के लिए या फिर कभी अपने किसी स्वार्थ के लिए मनुष्य असत्य का सहारा लेता है पर वह यह भूल जाता है कि उसका मिथ्या अहंकार ही उसके और प्रभु के बीच की दीवार है ।

३) आत्मोन्नति तभी संभव है जब हम सत्य का सामना करने से न घबराएं । अपने अहंकार पर विजय प्राप्त करें । सदैव सत्य और मिथ्या के भेद पर गंभीरता से विचार करें । निस्वार्थ भाव से परोपकारी जीवन व्यतीत करें और सदैव सत्य का ही प्रचार करें । बुद्धि में तमोगुण न हो, मन में स्वार्थ न हो, इन्द्रियों को आसक्ति न हो तो सत्य का दर्शन होने में देर नहीं लगेगी ।

४) हमारे मन को दृश्य वस्तुओं की इतनी आदत पड़ी है कि किसी दृश्य का सहारा लिए बगैर हमको चैन नहीं आता । प्रभु तो दृश्यों के परे है । अतः दृश्यों में रमने वाला मन उस तक पहुँच ही नहीं सकता । दृश्य संसार का सहवास छोड़कर अदृश्य में, निर्गुण में रमने का सामर्थ्य मन को तभी प्राप्त होगा जब मन में प्रभु का चिंतन, वाणी से प्रभु का नामस्मरण तथा शरीर से प्रभु का काम नित्य होने लगेगा ।

बहु हिंपुटी होइ जे मायपोटी ।
 नको रे मना यातना तेचि मोठी ।
 निरोधे पचे कोंडिले गर्भवासी ।
 अधोमुख रे दुःख त्या बालकासीं ॥२०॥

अधोमुख = औंधा = उलटा, निरोध = बंदी, हिंपुटी = खिन्न = खेदयुक्त

रे मन, माँ के पेट में जीव को बहुत यातनाएं सहनी पड़ती हैं। माँ के पेट में बच्चा औंधा-मुँह होता है। सभी ओर से बंद होने के कारण उसे बहुत समय तक अनन्य क्लेश सहने पड़ते हैं।

विवेचन :

१) जन्म लेने वाले बालक को गर्भ के नौ महीने बहुत ही कष्टदायक होते हैं। कल्पना करें, एक ऐसी जगह जहाँ प्रकाश नहीं, हवा नहीं, निरीह एकान्त ! बेबस लाचार सी अवस्था, कभी सीधे तो कभी उलटे, हर पल किसी भी ओर से आघात की संभावना ! सोचें तो रोंगटे खड़े हो जाएं !

२) एक-दो नहीं पूरे नौ महीने का बंदीवास। क्या कोई अपनी इच्छा से वापस दोहरा सकेगा? जब तक जीव गर्भ में रहता है तब तक उसे कष्टों का ज्ञान रहता है। पर गर्भ के बाहर आते ही, जन्म लेते ही उसका ज्ञान लुप्त हो जाता है, मानो जन्म की क्रिया उसके मस्तिष्क पर ऐसा आघात पहुँचा गई हो जिससे स्मृतिभ्रंश हो जाए !

३) माता ने अज्ञानवश किया हुआ मिथ्याचार गर्भ में पल रहे शिशु पर कई अत्याचार ढाता है परंतु वह पराधीन होता है। इतना लाचार, निर्बल होता है कि अपने कष्टों की कहानी माता तक पहुँचा भी नहीं सकता। और तो और रूदन भी नहीं कर सकता। उसकी वहाँ कोई सुनवाई नहीं !

४) जन्म के समय औंधी लटकी अवस्था में उसे ऐसे संकीर्ण द्वार से बाहर आना पड़ता है कि उसकी जान पर बन आती है। बाहर निकलने के लिए जीव कितना छटपटाता है ! उस बंदीवास को त्यागने के लिए वह तड़प उठता है। मनुष्य को अपने जन्म की यह कथा हमेशा ध्यान रखनी चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि जहाँ से इतनी मुश्किलों से वह बाहर निकल सका कहीं वहीं वापस जाने का सामान जीवन यात्रा के दौरान न संजो ले !

मना वासना चूकवी येरझारा ।
 मना कामना सांडि रे द्रव्यदारा ।
 मना यातना थोर हे गर्भवासी ।
 मना सज्जना भेटवी राघवासी ॥२१॥

येरझारा = आवागमन, द्रव्यदारा = कनक-कामिनी

रे मन, वासनाओं के कारण जीव जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसता है। इस व्यर्थ आवागमन से उबरना है तो वासना का त्याग कर ! धन और स्त्रीसुख की चाह मत रख ! रे मन, प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर चल जिससे पुनः पुनः गर्भवास की यातनाओं से मुक्ति मिले और चिरआनंद में आत्मा निवास करे !

विवेचन :

१) जन्म-मृत्यु के चक्र से बाहर निकलना है तो सिर्फ एक ही उपाय है- विषय वासनाओं का त्याग ! तभी मन प्रभु चरणों में लीन हो सकेगा और मृत्यु समय शान्ति से सच्चिदानंद ब्रह्म में विलीन हो सकेगा।

२) देह की भाषा में स्त्री-समागम जैसा उत्कट सुख नहीं ! और शेष इंद्रिय सुखों के उपभोग के लिए पैसा आवश्यक है। कुछ व्यक्ति कुर्सी की झूठी शान की अभिलाषा रखते हैं तो कुछ अपनी कलाशक्तियों का दुरुपयोग करके नाम कमाना चाहते हैं। पैसा हो या काम, प्रतिष्ठा हो या कला, व्यवहार में सबकी थोड़ी बहुत आवश्यकता रहती है। परंतु उसके पीछे कितना दौड़े, उसमें कितना उलझा जाए इसका विचार मनुष्य को नहीं रहता।

३) रे मन, अगर तू अपनी अभिलाषाएं न भुला सका, अपनी वासनाओं पर विजय न पा सका तो फिर से गर्भ की घोर यातनाएं सहनी पड़ेगी। यह जन्म-मृत्यु का खेल इसी तरह चलता रहेगा और फिर अगला जन्म किस योनि में प्राप्त हो क्या पता !

४) इस दृश्य संसार में आसक्त हुआ मन जीव को अधोगति की ओर खींचता है ! परोपकारी कर्तव्यपरायण मन मनुष्य को प्रभु से मिलता है। एक ही मन दोनों जगह काम कर सकता है। यहाँ समर्थजी मन से विनती करते हैं कि रे मन तू तो सज्जन है अतः भक्त की भांति प्रभु-दर्शन पाने के लिए प्रभु राम से प्रेम कर।

मना सज्जना हीत माझे करावे ।
रघूनाथका दृढ़ चिन्ती धरावे ।
महाराज तो स्वामी वायुसुताचा ।
जना उद्धारी नाथ लोकत्रयाचा ॥२२॥

वायुसुत = मारुतसुत = हनुमान, नाथ = स्वामी = प्रभु

हे सज्जन मन, मुझ पर उपकार कर । प्रभु को हृदय में दृढ़ बसा ले । हनुमान जी के स्वामी श्रीराम तो पापी, पतित लोगों का त्रिलोक उद्धार करने वाले अनार्थों के नाथ हैं । ऐसे श्रीरामजी से नाता जोड़ने से वे तेरी जीवन-नौका भी संसार सागर के पार लगा देंगे ।

विवेचन :

१) रे मन, तुम सज्जन हो इसलिए मेरे हित की सोचो । मेरा चंचल चित्त सदा एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर भटकने का आदि हो गया है । केवल प्रभु पर ही एकचित्त होना उसे भाता नहीं । इस पुरानी आदत को छुड़ाने में तुझे कष्ट तो होगा फिर भी मेरे उद्धार के लिए, दृढ़ता से मेरे अभ्यास में मदद कर और मुझे श्रीराम की शरण में ले चल ।

२) प्रभु को अपने अंतःकरण में बसा लेना ही परमार्थ का आधार है, प्राण है । प्रभु से नाता जोड़ने के लिए उसे मन के हर कोष में प्रेम से बांधना पड़ता है । प्रभु मेरा हो जाए तो फिर कोई ऐश्वर्य मुझे लुभा नहीं सकेगा, मेरी इन्द्रियां मेरा कहा मानेंगीं । फिर मैं किसी लालच में फँस कर कोई गलत काम नहीं करूंगा ।

३) श्री समर्थ जी के आराध्य देव भगवान श्रीराम होने के कारण उनके उद्बोधन में श्रीराम जी का नाम पुनः पुनः आता है । वे कहते हैं कि रे मन, तुझ से भी अधिक वेगवान वायुसुत श्री हनुमान जी जिसे अपना स्वामी मानते हैं उस भगवान राम की आराधना करो ।

४) भगवान श्रीरामजी ने जन-उद्धार का व्रत ले रखा है । वे त्रिलोक के धनी हैं । जो भी उनकी शरण में गया उसे मोक्ष प्राप्त हुआ है । वे तुम्हारा कल्याण अवश्य करेंगे ।

न बोले मना राघवेवीण काही ।
जनी वाउगे बोलता सूख नाहीं ।
घडी ने घडी काळ आयुष्य नेतो ।
देहान्तीं तुला कोण सोडू पहातो ॥२३॥

वाउगे = व्यर्थ = निरर्थक

रे मन, तू रामनाम का सदैव स्मरण रख । ईश्वर को भुलाकर अन्य चर्चाओं में उलझना व्यर्थ है । सच कहा जाए तो हमारी आयु का हर क्षण बीतता जा रहा है । मृत्यु समय और कोई मदद करने नहीं आने वाला ! मुक्ति प्रदान करनेवाला केवल प्रभु श्रीराम ही है ।

विवेचन :

१) किसी भी ध्येय को प्राप्त करने के लिए उसकी लगन होनी चाहिए । खाते-पीते, उठते बैठते अपने लक्ष्य का चिंतन ही लगन कहलाता है । श्रीसमर्थजी यह कहना चाहते हैं कि प्रभु की लगन उत्पन्न होने के लिए हमें अपने सभी कार्य प्रभु की सेवा समझ कर करने चाहिए । प्रत्येक वार्तालाप प्रभु के अनुसंधान के साथ ही होना चाहिए ।

२) अन्य विषयों पर अधिक समय चर्चा करना टाल देना चाहिए । हम जिस विषय की चर्चा करते हैं उसी का चिंतन मन में होता है । अर्थात् उसके सापेक्ष प्रभु का चिंतन बहुत कम होता है । ऐसे आधे अधूरे चिंतन से परमेश्वर की प्राप्ति कैसे होगी । प्रभु दर्शन कैसे होगा?

३) सतर्क आदमी अपना समय व्यर्थ नहीं गवाँ देता । भगवान का भक्त समय के बारे में बहुत ही सतर्क रहता है । हर बीतते क्षण के साथ हमारी आयु बढ़ रही है । ईश्वर दर्शन का लक्ष्य प्राप्त करना है तो हमें हर क्षण का हिसाब रखना होगा । हर क्षण प्रभुभक्ति में जीने का प्रयास करना होगा ।

४) मृत्यु समय ही मनुष्य की परीक्षा की वास्तविक घडी होती है । आध्यात्मिक दृष्टि से एक सीढ़ी ऊपर चढ़ने का मौका मृत्यु के समय ही मिलता है । परंतु जीवन भर जो उपासना की है, उसी का उपयोग अंत समय में होना है । अन्य कोई भी कला वहाँ काम न आ सकेगी । जगत के बंधनों से मुक्त रहने वाला भक्त ही मोक्ष पा सकता है ।

रघूनायकावीण वाया शिणावे ।
 जना सारखें व्यर्थ कां वोसणावें ।
 सदा सर्वदा नाम वाचें वसो दे ।
 अहंता मनी पापिणी ते नसो दे ॥२४॥

वोसणणे = बड़बड़ाना, अहंता = अहंकार

परमेश्वर के स्मरण के बगैर कुछ भी करना व्यर्थ है, नीरस है। प्रभु-नाम, राम नाम ही सुख का आदिकारण है, सुख की नींव है। रे मन, आनंद देने वाला रामनाम ही तू निरंतर जप। अध्यात्म दृष्टि से सब पापों का आरंभ अहंकार में है। अतः अहंकार को छोड़ दो, मन से उसे मिटा दो।

विवेचन :

१) शांति, समाधान, आनंद जिस रामनाम में है उसको छोड़ हम क्यों व्यर्थ के वार्तालाप में उलझें और अपने आप को दुखी करें। ऐसी कोई बात जिसमें प्रभु का विचार न हो कैसे सुख दे सकेगी?

२) मनुष्य की विशेषता उसकी भाषा से प्रकट होती है। सांसारिक जीवन में वाणी का प्रबल सामर्थ्य अनेक बार सामने आता है। किन्तु सामान्य लोग प्रभु की दी यह शक्ति व्यर्थ ही गवाँते हैं। अधिकांशतः लोग वाणी का उपयोग शस्त्र समान करने में ही बड़प्पन समझते हैं। खुद भी दुखी होते हैं और दूसरों को भी व्यथित करते हैं। हम भला उनका अनुसरण क्यों करें?

३) मौन से वाणी काबू में आ जाएगी। पर इससे व्यवहार में बाधा पड़ेगी। अतः मौन की अपेक्षा वाणी को प्रभु के नामस्मरण में व्यस्त रखना चाहिए। वाणी को अगर नामस्मरण की आदत हो जाए तो वाणी पर संयम रहेगा और व्यवहार भी सुचारू रूप से चलेगा। ईश्वर समर्पित जीवन जीने के लिए मनुष्य को सर्वप्रथम अपनी वाणी वश में करनी होगी।

४) जहाँ अहंकार पलता है वहाँ प्रभु से अलगाव बढ़ता है। परमेश्वर से दूरी निर्माण करने वाले विभिन्न दोषों में अहंकार का स्वामित्व रहता है। यही अहंकार प्रभु उपासना की प्रगति में बाधक बनता है। कष्ट रहित जीवन बिताने के प्रयास में मनुष्य शीघ्र ही अनीति की राह पकड़ लेता है। इस अधोगति से बचने और अहंकार भुलाने के लिए ईश्वर के चरणों में अनन्य शरणागति यही एकमात्र उपाय है।

मना वीट मानू नको बोलण्याचा ।
 पुढें मागुता राम जोडेल केंचा ।
 सुखाची घडी लोटता सूख आहे ।
 पुढें सर्व जाईल कांही न राहे ॥२५॥

रे मन, मेरी बात से उद्विग्न मत होना। अगर नामस्मरण की आदत नहीं होगी तो मृत्यु-समय प्रभु का स्मरण कैसे होगा? प्रभु-दर्शन कैसे होगा? जीवन का क्रम देखो- सुख का समय खत्म होते ही दुःख सामने खड़ा हो जाता है। आज जो अनुकूल है वह कल नष्ट हो सकता है। मृत्यु आने पर सभी सांसारिक वस्तुएं यहीं छूट जाएंगी, प्रभु का नाम ही आखिर में काम आएगा।

विवेचन :

१) हमारे मन को दृश्य और स्थूल वस्तुओं से प्रेम रहता है। अतः उनका बखान बहुत भाता है। अदृश्य, सूक्ष्म तथा अतींद्रिय परमेश्वर के गुणगान में रस नहीं आता। अपनी स्तुति कितनी भली लगती है! परंतु उपदेश के बोल कतई रास नहीं आते। तभी तो मन को मीठी वाणी से, पुचकार कर अध्यात्म का श्रवण करवाना पड़ता है।

२) अंतकाल में राम नाम ही तारता है परंतु आज अगर उसकी आदत नहीं डाली तो अंत समय भला वह कैसे याद आएगा। रोग होने के बाद उसके उपचार में क्या कम कष्ट होते हैं फिर रोग न हो इसके लिए संयमित जीवन जीना क्या बुरा है। जिस जगह हम गए नहीं वहाँ की सुंदरता सुन कर अवगत नहीं होती। ईश्वर का प्रेम भी ऐसा ही है, जब तक उसमें रंगे नहीं, उस आनंद का ज्ञान ही नहीं होता।

३) मानवीय जीवन में सुख-दुख के मिश्रण का अनुभव होता है। उसमें सुख अधिक या दुख इस प्रश्न को अलग रखें। परंतु राजा से रंक तक, छोटों से बड़ों तक, अर्थात् साक्षात् अवतारी पुरुषों को भी सुख के पश्चात् दुख और दुख के पश्चात् सुख इसी क्रम से जीवन जीना पड़ता है।

४) सुख के समय सामान्य जन अत्यधिक उल्लसित होते हैं, परंतु वह घड़ी स्थायी नहीं रहती। कभी दिन ऐसे बदलते हैं कि सुख का नामनिशान ही मिट जाता है। ऐसी परिस्थिती में मनुष्य दुखों से झुलस जाता है। इस शोक से बचने के लिए मनुष्य को प्रभु का दृढ़ सहारा ले के जीना चाहिए।

देहे रक्षणा कारिणें यत्न केला ।
 परी शेवटी काल घेवोनि गेला ।
 करी रे मना भक्ति या राघवाचि ।
 पुढे अंतरी सोडि चिंता भवाचि ॥२६॥

देह की रक्षा करने का यत्न मनुष्य चाहे जितना करे, आखिर उसे मृत्यु अपना ग्रास बना ही लेती है । रे मन, तू प्रभु से, राघव से प्रेम कर, उसकी भक्ति कर और भविष्य की, गृहस्थी की चिंताएं त्याग दे क्योंकि ईश्वर ही तुम्हें सच्ची राह दिखा सकता है !

विवेचन :

१) मनुष्य अपनी देह की देखभाल करता है जिससे वह काम करने लायक मजबूत रहे, सर्दी - गर्मी की तकलीफ सह सके । परंतु सुखलोलुप जनता देह कुछ इस तरह जतन करती है कि वह काम करने लायक ही नहीं रहती । और गर्मी - सर्दी से बचने के उपायों में ही मन व्यस्त रहता है ।

२) मृत्यु की चिंता व्यर्थ है क्योंकि पूर्वकर्मों के फलस्वरूप जीव देह धारण करता है और भोग समाप्त होते ही वह काल के अधीन हो जाता है । अतः प्रभु के कार्य करने के लिए शरीर की उचित देखभाल भले ही करें पर भक्त को मृत्यु का सामना करने के लिए हर पल तैयार रहना चाहिए ।

३) मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर की भक्ति में अपना जीवन बिताए । अपनी क्षमतानुसार दान करता रहे । दूसरों के काम आए, बड़े बूढ़ों की सेवा करे । स्वयं को ईश्वरीय अंश समझकर सृष्टि के संवर्धन के लिए अपने आप को समर्पित कर दे । ध्यान रहे कि उसे यह देह कर्तव्यपूर्ति के लिए मिली है, ऐशोआराम के लिए नहीं !

४) मनुष्य को सांसारिक दृष्टि से दो तरह की चिंताएं सताती हैं । एक तो मृत्यु की और दूसरी अपनी गृहस्थी की । सांसारिक चिंता की एक अनोखी बात है कि हम चिंता करें या न करें, संसार, प्रपंच अपने तरीके से चलता रहता है । भक्त को, उपासक को फल की आशा न रखते हुए गृहस्थी के सारे काम उत्तम रीति से करने चाहिए । सभी के प्रपंच पर प्रभु की सत्ता चलती है इसका स्मरण रखके चिंता मुक्त जीवन व्यतीत करना चाहिए । साथ ही भक्ति मार्ग पर चलते हुए आध्यात्मिक दृष्टि से परिपूर्ण त्यागमय जीवन बिताना चाहिए ।

भवाच्या भये काय भीतोस लंडी ।
 धरी रे मना धीर धाकासी सांडी ।
 रघूनायका सारिखा स्वामी शीरीं ।
 नुपेक्षी कदा कोपल्या दंडधारी ॥२७॥

लंडी = डरपोक = नामर्द, धाक = भय, दंडधारी = यम

रे मन, डरपोक की तरह इस संसार के भय से इतना घबड़ाता क्यों है? जरा धीरज रख, मन में हिम्मत बांध । साक्षात् प्रभु रामचंद्रजी तेरे रखवाले हैं । उनके सामने काल भी विवश होता है । प्रभु तुम्हारी उपेक्षा कभी नहीं करेंगे ।

विवेचन :

१) व्यक्ति, समाज और मानवीय जीवन, अनेक अंगों से अपूर्ण होने के कारण सामान्य मनुष्य को भविष्य की चिंता सताती रहती है । इस चिंता का आश्रयस्थान मन ही है । अतः मन से निश्चयपूर्वक चिंता को हटा कर, धैर्य से सांसारिक आपत्तियों का सामना करना चाहिए । जब जीवन ही क्षणभंगुर है तो उसमें आनेवाली आपत्तियां भी क्षणिक ही हैं ।

२) चित्त को निर्भय बनाने के लिए किसी सहारे की आवश्यकता होती है । वह सहारा श्रीराम का हो ऐसा श्रीसमर्थजी का आग्रह है । ईश्वर का भक्त ईश्वर के काम के लिए तत्पर हो तो उसे किसी का क्या डर ! हमारा जीवन अगर प्रभु के कार्य करते हुए न्योछावर हो गया तो उसमें आनंद ही है ।

३) भगवान के सहारे के अतिरिक्त अन्य सभी आधार अपूर्ण हैं । प्रभु का आधार स्वयंपूर्ण है । जो प्रभु को अपना स्वामी समझता है उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व परमेश्वर ले लेता है । कई बार मनुष्य अपने से अधिक अपने परिवार की खुशहाली के लिए लिए चिंतित रहता है । पर उसे ध्यान रखना चाहिए कि परिवार जितना उसका है उससे कहीं अधिक ईश्वर का है ।

४) मनुष्य जानता है कि संसार में जो भी निर्माण हुआ है उसका अंत होना ही है । जितना वह अपनी काया से मोह रखेगा उतना ही डर उसको घेरे रहेगा । प्रभु का भक्त भी देहधारी होता है, उसके भी सगे सम्बंधी होते हैं । पर वह सिर्फ अपने काम में मगन रहता है । उसे आनंद इस बात का होता है कि वह ईश्वर का है और ईश्वर के कार्य के लिए ही जी रहा है । जब तक ईश्वर न चाहे, मृत्यु भी उसका बाल बांका नहीं कर सकती ।

दिनानाथ हा राम कोदंडधारी ।
पुढे देखता काळ पोटी थरारी ।
जनां वाक्य नेमस्त हे सत्य मानीं ।
नुपेक्षी कदा राम दासाभिमानी ॥२८॥

दिनानाथ = दुखी जनों का रक्षक, कोदंडधारी = धनुर्धर राम

भगवान सचमुच ही दुखी जनों के त्राता हैं, रक्षा करने वाले हैं। प्रभु राम को सामने देखते ही प्रत्यक्ष यमराज भी भय से काँपने लगता है। यह वचन सत्य है, यथार्थ है कि “प्रभु अपने भक्तों की रक्षा करते हैं”।

विवेचन :

१) श्रीरामदास स्वामी यहाँ बताना चाहते हैं कि प्रभु शस्त्रधारी हैं, साथ ही निर्बल की रक्षा करनेवाले हैं। तात्पर्य कि उनके जैसा बलवान सामर्थ्यशाली और कोई हो ही नहीं सकता। अतः भक्त निश्चिंत होकर निडरता से अपना कार्य कर सकता है।

२) ईश्वर को सम्मुख पाकर मृत्यु भय से कांपती है, भक्त नहीं! “प्रभु है, और वह मेरे निकट है” ऐसी दृढ़ भावना होनी चाहिए। तभी तो वह मेरी रक्षा करता है ऐसा विश्वास होगा। स्वयं का ‘अहं’ जितना हमें सच लगता है उतना ही ईश्वर सत्य प्रतीत होना चाहिए। यही आस्तिकता है। यह आस्तिक बुद्धि जिसके पास है वही सच्चा भक्त बन सकता है।

३) श्रीसमर्थजी का कहना है कि यह अतिशयोक्ति नहीं कि प्रभु अपने भक्त की रक्षा करते हैं। हम अपने इर्दगिर्द कितने ही विस्मयकारी दृश्य देखते हैं और कभी उसे आश्चर्य तो कभी उसे अपना अपना भाग्य कहते हैं। सच तो यह है कि अच्छा बुरा सब उस परम्पिता के हाथ में है। भक्त कितना भी कठिन काम हाथ में ले, वह अवश्य पूरा होगा और ईश्वरीय सहायता के अनुभव उसे अवश्य आएंगे।

४) श्रीसमर्थजी यहाँ अपने अनुभवों के आधार पर बता रहे हैं कि जो भक्त प्रभु पर दृढ़ विश्वास रखते हैं उनके ऊपर भी विपदाएं आती हैं। परंतु सभी संकटों में उन्हें सहायता मिलती है। घोर संकट में भी प्रभु, भक्त को उचित मार्ग पर चलने की प्रेरणा एवं सामर्थ्य प्रदान करते हैं। प्रभु के अस्तित्व का विश्वास पाकर, प्रत्यक्ष काल-यमराज भी सामने आकर खड़ा हो जाए तो भक्त उससे डरते नहीं! भक्त जानते हैं कि प्रभु उनकी उपेक्षा कभी नहीं करेंगे।

२८/ मन की आँखें खोल

पदी राघवाचे सदा ब्रीद गाजे ।
बळे भक्तरूपेशिरी कांबि वाजे ।
पुरी वाहिली सर्व जेणे विमानी ।
नुपेक्षी कदा राम दासाभिमानी ॥२९॥

पुरी = अयोध्यानगरी, रिपु = शत्रु

शत्रु का विनाश कर भक्त की रक्षा करना यह तो प्रभु राम की प्रतिज्ञा है। श्रीराम प्रभु ने समस्त अयोध्यावासी प्रजा-जनों को मुक्ति प्रदान की। भक्तों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व प्रभु राम ने अपने कंधों पर लिया है अतः भक्तों की उपेक्षा वे कभी नहीं करते।

विवेचन :

१, २) प्रभु राम के पदचाप की गूँज उनकी प्रतिज्ञा की घोषणा कर रही है -भक्त के शत्रु के सिर पर प्रभु के शस्त्र का आघात अवश्य होगा। दुष्टों को पराजित करने के लिए प्रभु सदैव शस्त्र सिद्ध हैं। मानव-मन की धारणा ही ऐसी है कि भक्तों को अकारण ही शत्रु निर्माण होते हैं। भक्त के बैरी होते हैं, परंतु भक्त तो किसी का भी बैरी नहीं होता। अगर भक्त का विरोधी या शत्रु न हो तो उसकी भक्ति की कसौटी कैसे होगी!

३) श्रीराम प्रभु बलशाली हैं साथ ही बड़े उदार स्वभाव के हैं। पूरी अयोध्या नगरी को विमान में सवार कराकर उन्होंने वैकुण्ठ पहुँचाया और उनका उद्धार किया। कहा जाता है कि सारे अयोध्यावासीयों को मोक्ष की प्राप्ति हुई। शरण में आने वाले हर प्राणी की सहायता के लिए प्रभु राम तत्पर हैं। रे मन, तुझे भी प्रभु का वरदहस्त प्राप्त हो सकता है।

४) प्रभु अपने भक्तों के प्रति गर्व का अनुभव करते हैं। वे भक्तों को अनगिनत रूपों में दर्शन देते हैं। प्रभु भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं करते। कभी मित्र तो कभी सेवक बनकर वे भक्त की पुकार सुनकर दौड़े चले आते हैं। पुराणों में भक्तों के लिए प्रभु की रचाई अनेक लीलाओं के वर्णन मिलते हैं। प्रभु की छत्रछाया में भक्त का हर पल मंगलमय बन जाता है।

मन की आँखें खोल / २९

समर्थाचिया सेवका वक्र पाहे ।
 असा सर्व भूमंडळी कोण आहे ।
 जयाचि लिळा वर्णिती लोक तीन्ही ।
 नुपेक्षी कदा राम दासाभिमानी ॥३०॥

वक्र दृष्टि = क्रोध की दृष्टि = टेढ़ी नजर से

ईश्वर सर्वशक्तिमान है, सामर्थ्य सम्पन्न है । अतः संसार में उसके भक्तों की ओर कोई भी टेढ़ी नजर से नहीं देख सकता । तीनों लोकों के वासी प्रभु का गुणगान करते हैं, उनके चरित्र का वर्णन करते हैं । प्रभु सदैव अपने भक्तों के हितों की रक्षा करता है ।

विवेचन :

१) समर्थजी का यह एक बहुत ही प्रसिद्ध श्लोक है । प्रभु हर पल मेरे साथ है, मेरी रक्षा करता है ऐसा दृढ़ विश्वास भक्त के मन में रहता है । अतः वह कितनी निर्भयता से, निडरता से जीवन व्यतीत करता है यह इस श्लोक से पता चलता है । उसके मन की अवस्था इतनी ऊँची होती है कि द्वेष, मत्सर और बैर के तीर उस तक पहुँच ही नहीं सकते ।

२) जब शासकीय संरक्षण मिलने वाले पर कोई हाथ नहीं उठा सकता तो जिसे प्रभु का संरक्षण प्राप्त है उसे भला कैसे कोई हानि पहुँचा सकता है । किसमें इतना सामर्थ्य है कि प्रभु को ललकारे । कोई पागल कुत्ता काटने आ जाए तो हम उससे दूर हो जाते हैं । उसी प्रकार भक्त मनःपूर्वक ईर्ष्या और द्वेष से दूर हटता है । परंतु वह स्वयं पूर्ण रूप से निर्भय रहता है ।

३) प्रभु राम की कीर्ति तीनों लोकों में फैली है । उनका पराक्रम, उनका दृढ़निश्चय, उनकी सत्यवादिता, उदारता और भक्त से उनका प्रेम विश्वविख्यात है । महर्षि वाल्मीकी जैसे महाकवि जिनका गुणवर्णन करते समय अपने आप को भुला बैठे उनकी शरण में कौन नहीं आना चाहेगा ।

४) भक्त प्रभु से स्नेह रखता है और प्रभु भक्त को निहाल कर देता है । प्रभु को अपने भक्त पर अभिमान होता है । इसी कारण वह भक्त का अपमान नहीं सहन कर सकता । प्रभु हर तरह से अपने भक्तों की रक्षा करता है । वह कभी अपने भक्तों की उपेक्षा नहीं करता ।

महा संकटीं सोडिले देव जेणें ।
 प्रतापें बळें आगळा सर्व गूणें ।
 जयाते स्मरे शैलजा शूलपाणी ।
 नुपेक्षी कदा राम दासाभिमानी ॥३१॥

शैलजा = पार्वती

जब देवता महान संकट में घिरे थे, तो प्रभु श्रीराम ने ही उनके संकटों का निवारण किया था । ऐसे पराक्रमी, सामर्थ्यशाली और सभी गुणों से सम्पन्न एवं परम श्रेष्ठ प्रभु राम का शिव - पार्वती भी नित्य स्मरण करते हैं । दासाभिमानी श्रीराम अपने भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं करते ।

विवेचन :

१) रावण के कारागृह में सभी देवता जब यातनाएं भोग रहे थे तो प्रभु राम ने उन्मत्त रावण को पराजित कर देवताओं को मुक्त कराया था । अपनी बुद्धि, साहस और उत्तम सैन्य संचालन के बल पर क्रूर रावण की लंका को जीत कर पृथ्वी से स्वर्ग तक हर्ष का वातावरण फैला दिया था ।

२) श्रीरामचन्द्रजी का सामर्थ्य अलौकिक है । वे प्रतापी हैं, साथ ही तेजस्वी, बुद्धिमान, नीतिमान, संयमी, प्रतिभाशाली, वेदशास्त्रनिपुण, गंभीर, सुन्दर, सुडौल, वैभवसम्पन्न, प्रजावत्सल और क्षमाशील हैं । उनके गुणों से मोहित होकर विरक्त महातपस्वी वाल्मीकि ऋषि ने रामयण लिखी ।

३) श्रीभगवान शंकर और देवी पार्वती भी श्रीरामचंद्रजी का स्मरण करके अपने आप को धन्य समझते हैं । ईश्वर अर्थात् सत्-चित्-आनंद परमेश्वर ही विश्व का आदिकारण होने से सर्वत्र ज्ञान, सामर्थ्य और सद्गुणों का आश्रयस्थान है । समय समय पर भक्त की सहायता हेतु भगवान अनेक रूपों में प्रकट हुए हैं ।

४) श्रीरामचन्द्रजी अपने भक्तों से सदा स्नेह रखते हैं । वे उन्हें योग्य दिशा दिखलाते हैं और उस पर चलने की क्षमता भी प्रदान करते हैं । वे सदैव अपने भक्तों की रक्षा के लिए तत्पर हैं । उनसे भक्तों की उपेक्षा हो ही नहीं सकती ।

अहिल्या शिळा राघवे मुक्त केली ।
पदी लागता दिव्य होऊनि गेली ।
जया वर्णिता शीणली वेदवाणी ।
नुपेक्षी कदा राम दासाभिमानी ॥३२॥

शिळा = पत्थर, पद = चरण = पाँव

प्रभु श्रीराम इतने महान हैं कि पत्थर बनी अहिल्या प्रभु के पद-स्पर्श से मुक्त हो गई, उसको दिव्य गति प्राप्त हुई । प्रभु का गुणगान करते करते स्वयं वेद भी थक गए । ऐसे प्रभु अपने भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं करते ।

विवेचन :

१) अहिल्या गौतम ऋषि की पत्नी थी । इन्द्रदेव ने उसके साथ छल किया था और अपने पति के शाप से वह शिला बन गयी थी । विश्वामित्र ऋषि के साथ प्रभु श्रीराम जब सीता स्वयंवर के लिए मिथिला नगरी जा रहे थे तो रास्ते में गुरु के कहने पर श्रीराम ने उस शिला को चरणस्पर्श किया । प्रभुस्पर्श होते ही अहिल्या दिव्य देह धारण कर के शाप से मुक्त हो गई ।

२) श्रीरामचंद्रजी पापीयों का उद्धार करने वाले हैं । अनजाने में अहिल्या के हाथों व्याभिचार हुआ था । परंतु श्रीराम के पवित्र चरणों के स्पर्श से वह अपने पापों से मुक्त हो गई । सारांश कोई कितना भी घोर पातकी क्यों न हो, प्रभु के संपर्क में आते ही उसका उत्थान संभव है । प्रभु का कुछ क्षणों का सान्निध्य मन की हीनता को मिटाकर उज्वल पथ पर ले चलता है ।

३) असीम ईश्वर अनंत प्रकारों से विश्व में प्रकट होता है । मानव इतिहास में वेदों ने सर्वप्रथम ईश्वर का वर्णन करने का प्रयास किया । परंतु प्रभु का बखान करते करते वे थककर हार गए । सच ही है क्योंकि मनुष्य नश्वर है, अनित्य है । देहधारी मनुष्य सीमित शब्दों से अगर असीम, अनंत ईश्वर का संपूर्ण बखान कर सकता तो ईश्वर की अनंतता ही शेष नहीं बचती ।

४) रंग, जाति, विकलांगता, स्वभाव, रूप, गुण, आकार, निर्धनता, दोष आदि अनेक कारणों से मनुष्य दूसरों के साथ निष्ठुर व्यवहार कर सकता है । परंतु प्रभु की शरण में सब बराबर हैं, सभी कृपापात्र हैं ।

वसे मेरू मांदार हे सृष्टि लीळा ।
शशी सूर्य तारांगणे मेघमाळा ।
चिरंजीव केले जनी दास दोन्हीं ।
नुपेक्षी कदा राम दासाभिमानी ॥३३॥

जब तक इस सृष्टि में मंदार पर्वत है, चन्द्र, सूर्य हैं, तारामण्डल है, बादल बनते हैं तब तक प्रभु श्रीराम के अनन्य भक्त हनुमान व विभीषण दोनों अमर हैं । प्रभु कभी अपने भक्तों को उपेक्षित नहीं रखते ।

विवेचन :

१) इस सृष्टि में अनगिनत वस्तुएं हैं । कई तो हमारे ज्ञान की कक्षा के बाहर हैं । बड़े बड़े पर्वत, सूर्य-चंद्र, तारामण्डल, मेघराशियां सभी प्रभु की लीलाएं जान पड़ती हैं । सभी का औचित्य है ।

२) मानव तो इस सृष्टि का बहुत ही छोटा अंश भर है और उसका जीवन सूर्य-चंद्र के सापेक्ष नगण्य है । फिर भी उसका अहंकार उसे ईश्वर की शरण में जाने से रोकता है ।

३) ईश्वर भक्ति के दो प्रकार होते हैं - १) आन्तरिक भक्ति और २) बाह्य स्वरूप की भक्ति । मन में भगवान पर पूर्ण विश्वास और चित्त में उसका अखंड अनुसंधान यही आन्तरिक भक्ति है । देह से समस्त व्यवहार करते हुए, मुख से सदैव प्रभुनाम लेना बाह्य भक्ति है । दोनों तरह के भक्तों से प्रभुचरित्र की मिठास बढ़ती ही है । ईश्वर की कृपा से भक्त विभीषण और भक्त हनुमान दोनों की कीर्ति संसार में सदा के लिए अमर हो गई ।

४) सभी भक्तों की मनोवृत्ति एक जैसी नहीं होती । कुछ भक्त शांत और अति संवेदनशील होते हैं । वे एकांत में रहना चाहते हैं । कुछ भक्त अत्यधिक बुद्धिमान और शक्तिमान होते हैं । वे बहुत ही समुदाय प्रिय और क्रियाशील होते हैं । भक्त के नाते दोनों की योग्यता एक जैसी ही होती है । दोनों समान रीति से ईश्वर सन्मुख शरणागत होते हैं । दोनों ही प्रभु-स्मरण में तल्लीन रहते हैं । परंतु दोनों में अंतर इतना ही होता है कि पहले प्रकार के भक्तों का दुर्जनों को भय नहीं लगता । इसी कारण ईश्वर अपने अवतार कार्य की पूर्तता के लिए हनुमान जैसे बलशाली भक्तों की सहायता लेते हैं । ईश्वर अपने भक्तों से बहुत स्नेह रखते हैं और अपने भक्तों का साथ कभी नहीं छोड़ते ।

उपेक्षा कदा रामरूपी असेना ।
जिवां मानवां निश्चयो तो वसेना ।
शिरीं भार वाहेन बोले पुराणी ।
नुपेक्षी कदा राम दासाभिमानी ॥३४॥

वास्तव में जो सच्चा भक्त है उसके साथ भगवान होते हैं । परंतु सामान्य मनुष्य को इस बात का दृढ़ विश्वास नहीं होता । “भक्तों की मैं हर प्रकार से रक्षा करता हूँ” ऐसे वचन वेद और पुराणों में मिलते हैं । प्रभु ही भक्तों का सच्चा सहारा है, बल है । प्रभु अपने भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं करता ।

विवेचन :

१) श्रीसमर्थजी स्वानुभव से बताते हैं कि जो कोई प्रभु का अस्तित्व निःसंदेह मान लेता है उसे अपने जीवनप्रवाह में उस सच्चिदानंद प्रभु की सत्ता का अनुभव हर घड़ी होता है । ऐसा नहीं है कि भक्त के प्रपंच की सभी घटनाएं सुखद हों परंतु हर प्रसंग में ईश्वरीय करुणा का अनुभव उसे अवश्य आता है इसमें सन्देह नहीं ।

२) सामान्य मनुष्य को परमेश्वर के विषय में दो आशंकाएं रहती हैं । पहली-भगवान है और अपने अति निकट है इसका मनुष्य को सौ फीसदी भरोसा नहीं होता । ‘ईश्वर है’ ऐसा हम कहते हैं परंतु मन में स्वयं का अस्तित्व जितना सच्चा लगता है उतना प्रभु का अस्तित्व सत्य प्रतीत नहीं होता । दूसरी आशंका-ईश्वर का प्रयोजन क्या है यह हम ठीक तरह से समझते नहीं । हम प्रभु को अपनी गृहस्थी में आनेवाले दुखद प्रसंग दूर करने का या उसे टालने का साधन मात्र समझते हैं ।

३) पुराणों में कहा गया है कि यह तो ईश्वर की प्रतिज्ञा है कि हर एक जीव का भार ईश्वर स्वयं उठाएंगे । यानि इस सृष्टि के जन्मदाता भी वही, पालनकर्ता भी वही और संहारकर्ता भी वही । अतएव भक्तों को विपरीत परिस्थितियों में भी चिंतामुक्त होकर कर्तव्यपालन करते रहना चाहिए ।

४) प्रभु पर असीम श्रद्धा हो तो भक्त की विवेकबुद्धि स्थिर रहेगी और सभी परिस्थितियों में वह ईश्वर का अस्तित्व अनुभूत कर पाएगा । साथ ही उस परमशक्ति का सहारा पाकर श्रेष्ठ जीवन व्यतीत कर सकेगा ।

असे हो जया अंतरी भाव जैसा ।
वसे हो तथा अंतरी देव तैसा ।
अनन्यास रक्षीतसे चापपाणी ।
नुपेक्षी कदा राम दासाभिमानी ॥३५॥

अनन्य = एकनिष्ठ, भाव = भावना

मनुष्य के अंतःकरण में परमेश्वर के प्रति जैसी भावना जागती है वैसा ही अनुभव वह पाता है । दृढ़ श्रद्धा हो तो उसे प्रभु सत्ता का अनुभव अपने हृदय में, अपने अंतःकरण में स्पष्टरूप से होता है । जो प्रभु से विभक्त नहीं होता उसकी प्रभु सदैव रक्षा करता है । आखिर भक्त का अंतिम सुखधाम ईश्वर ही है ।

विवेचन :

१, २) अध्यात्म की दृष्टि से यह श्लोक बहुत ही महत्वपूर्ण है । इसमें पियेया हुआ अध्यात्म तत्व इस प्रकार है - ईश्वर सभी प्रणियों के हृदय में वास करता है । परंतु उसका प्रकट स्वरूप मनुष्य की अपनी श्रद्धा पर निर्भर करता है । जिस रंग का चष्मा उसी रंग की दुनिया । हम अच्छे तो सब अच्छे, हम बुरे तो सब बुरे ! मनुष्य कहता है कि मेरा भला हो तो ईश्वर को मानें, ईश्वर कहता है कि मनुष्य ऊंचा उठे तो मुझे पाए !

३) मनःपूर्वक अर्थात् निःसंदेह संकल्प करना ही संकल्प की यथार्थता का चिन्ह है । मनुष्य संकल्प करना जानता है, परंतु उसके पास सच्चा संकल्प करने का कौशल नहीं है । ईश्वरीय अस्तित्व की पार्श्वभूमि के आधार पर किया हुआ हमारा संकल्प संदेह रहित करते रहना यही भक्ति-साधना है । हमारे अपने अस्तित्व की भावना जिस गहराई से हमारे अंतरंग में जागृत रहती है उतनी ही गहरी प्रभु के अस्तित्व की श्रद्धा हमारे हृदय में जब पनपने लगेगी तो समझ लेना कि प्रभु प्रकट होने में देर नहीं है ।

४) प्रभु के आदिसंकल्प में अपना संकल्प समाविष्ट होने से अनन्यता सिद्ध होती है । ऐसा समर्पित जीवन प्रतिपल साक्षात् प्रभु - प्रेरणा से चलता है, अग्रसर होता है । इससे भक्त के जीवन का व्यवहारिक आवरण बदलता नहीं परंतु अंतःकरण में अलौकिक आभा प्रकाशमान होती है ।

सदा सर्वदा देव सन्नीध आहे ।
कृपाळूपणें अल्प धारिष्ट पाहे ।
सुखानंद आनंद कैवल्यदानी ।
नुपेक्षी कदा राम दासाभिमानी ॥३६॥

सदा सर्वदा = निरंतर, सन्नीध = निकट, कैवल्यदानी = मोक्षप्रदाता

ईश्वर निरंतर हमारे साथ होता है, हमारे समीप होता है । कभी कभी संकट खड़ा कर के वह अपने भक्त के धैर्य की परीक्षा ले लेता है । रे मन, ईश्वर सदा सुखस्वरूप तथा आनंदमय है । वह मुक्ति प्रदान करने वाला उदार दाता भी है । वह अपने भक्तों की कभी उपेक्षा नहीं करता ।

विवेचन :

१) भक्तिमार्ग में “प्रभु सदैव मेरे निकट है” यह अनुभव भक्त की मनोरचना पर निर्भर होता है । कभी प्रभु की निकटता पर बुद्धि का दृढ़ विश्वास होता है । कभी उसका अद्भुत दर्शन होता है, अथवा दृश्य घटना में अचानक अनुकूल बदलाव होने से उसके अस्तित्व का बोध होता है । कभी हृदय में प्रकट होकर वह मार्गदर्शन करता है ।

२) श्रीसमर्थजी कहते हैं कि प्रभु दयालु है और वह भक्त के धैर्य की परीक्षा लेते हैं । मानवीय जीवन अच्छी बुरी घटनाओं का तानाबाना है । कठिन प्रसंग ही मन की सात्विक प्रसन्नता और बुद्धि की विवेकशक्ति जागृत करते हैं । शिशु चलना सीखते समय गिर पड़ता है तो माँ मुस्कराती है । वैसे ही संकट के क्षणों में हमारे काम, क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार सबकी परीक्षा हो जाती है । जो भक्त निरंतर प्रभु का अनुसंधान बनाए रखता है उसीको प्रभु की सहायता का अनुभव होता है ।

३) सच्चिदानंद ब्रह्म तो आनंद के स्रोत हैं । सूर्य का दर्शन हो तो प्रकाश और न हो तो अंधकार पर वह तो अपनी जगह है ही । वैसे ही परमात्मा तो सब दूर है । उसका दर्शन बना रहे तो आनन्द, न रहे तो दुख ! ईश्वर की साधना अविचल रहे तो मोक्ष प्राप्ति निश्चित है ।

४) इस संसार में जो-जो होता है उसका मुख्य कारण एक ईश्वर ही है । बाकी सभी दृश्य कारण तो उसी मूल कारण का तात्कालीक बाह्यस्वरूप हैं । यह ज्ञान प्रभु के सान्निध्य का सर्वोत्तम अनुभव है । भगवान अपने भक्तों की परीक्षा लेते हैं, उपेक्षा नहीं करते ।

सदा चक्रवाकासि मार्तण्ड जैसा ।
उडी घलितो संकटी स्वामी तैसा ।
हरीभक्तिचा घाव गाजे निशाणीं ।
नुपेक्षी कदा राम दासाभिमानी ॥३७॥

चक्रवाक = चकवा पक्षी, मार्तण्ड = सूर्य

चक्रवाक जोड़े का विरह दुख दूर करने के लिए सूर्य मानो तत्परता से आता है । उसी प्रकार भक्त जनों के कल्याण के लिए, संकट समय में उनकी रक्षा करने के लिए प्रभु दौड़े आते हैं । अतः वेद पुराण प्रभु का यशोगान करते हैं, स्तुति करते हैं । जीवन के नगाड़े पर प्रभु-भक्ति का प्रहार गर्जना करके बताता है कि प्रभु अपने भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं करते ।

विवेचन :

१) देखा जाता है कि नर और मादा चकवा पक्षी रात में बिछुड़ जाते हैं और अपने साथी को आवाज देते रहते हैं । सूर्योदय होते ही दोनों का मिलाप हो जाता है । उसी तरह भक्त और भगवान वास्तव में जीव और शिव एक ही पेड़ पर रहनेवाले दो पंछी की भांति हैं । जिस प्रकार भक्त को प्रभु के अतिरिक्त और कोई त्राता नहीं है, आधार नहीं है, उसी तरह प्रभु को भी भक्त के बिना चैन नहीं आता ।

२) संकट समय में भक्त प्रभु को ही पुकारता है और भक्त की अनन्य आर्त पुकार सुनते ही प्रभु उसकी रक्षा के लिए दौड़े आते हैं । इसका अर्थ यह है कि प्रभु का सच्चे मन से किसी भी समय किसी भी परिस्थिति में आवाहन करने से विश्व की अध्यात्म-शक्तियाँ उचित मदद करती हैं । आज तक अनेक भक्तों को इस सिद्धांत का अनुभव हुआ है ।

३, ४) श्रीसमर्थजी कहते हैं कि हरिभक्ति कर के देखो तो पाओगे कि सर्वत्र परमात्मा का कृपाजाल फैला हुआ है । तुम उसको सच्चे मन से पुकार कर तो देखो । वेद-पुराण, ऋषि-मुनियों के अनुभव डंके की चोट पर कह रहे हैं कि भगवान अपने भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं करते । उत्कट भक्ति ही प्रभु दर्शन का उचित माध्यम है ।

मना प्रार्थना तूजला एक आहे ।
 रघूराज थक्कीत होऊनि पाहे ।
 अवज्ञा कदा हो येदर्शी न कीजें ।
 मना सज्जना राघवीं वस्ति कीजे ॥३८॥

प्रार्थना = बिनती, अवज्ञा = अनादर, थक्कीत = चकित = मुग्ध

रे मन, तुझसे एक बिनती है । तू अपने चित्त में भक्ति-भाव धारण कर, और मुग्ध होकर प्रभु की लीला देख । मेरी इस बिनती का अनादर मत करना । हे सज्जन मन, प्रभु को अपने चित्त में सदा के लिए बसा ले ।

विवेचन :

१) श्रीसमर्थजी यहाँ मन से विनती कर रहे हैं कि मेरा अनुरोध स्वीकार कर ले । कितनी बार ऐसा होता है कि मनुष्य को सही क्या है इसका ज्ञान होता है परंतु उसका मन नहीं मानता और वह गलत राह पकड़ लेता है । सामने खड़ा क्षणभंगुर सुख उसे इतना लालायित करता है कि वह उसके लिए पाप भी कर डालता है और बाद में पछताता फिरता है ।

२) मनुष्य जब अपने जीवन एवं विश्व की रचना का सूक्ष्मता से अवलोकन करता है तो दोनों उसको परब्रह्म की लीला प्रतीत होते हैं । वह अनंत के दर्शन से अचंभित सा हो जाता है । इस अनंत, असीम का ज्ञान अगर मन में दृढ़ हो जाए, तो आत्मज्ञान के लिए और किसी साधना की आवश्यकता ही नहीं होती । श्रीसमर्थजी का राघव अनंत रूपों में, अनंत वेषों में प्रकट होनेवाला श्रेष्ठ सच्चिदानंद परमात्मा ही है ।

३) अपमान, अनादर, आलस, हीनता, उपेक्षा, उदासीनता ये सभी आज्ञा न मानने के ही रूप हैं । श्रीसमर्थजी कहते हैं कि रे मन, मेरा कहा मत टाल ! ऐसी कोई गलती मत कर जिससे प्रभु की अवज्ञा हो । तुझे सारे सही रास्ते ज्ञात हैं । अब कर्तव्य से मुँह न मोड़ और प्रभु की उपासना न छोड़ !

४) श्रीसमर्थजी मन से विनती करते हैं कि वह नश्वर दृश्यों को हटाकर अनंत, अपार, अगोचर में निरंतर निवास करे । ब्रह्मांड की असीमता से विस्मित होकर जो प्रभु को पुकारता है, उसका स्मरण करता है, उसकी पुकार प्रभु तक अवश्य पहुँचती है ।

जया वर्णिती वेद शास्त्रे पुराणे ।
 जयाचेनि योगे समाधान बाणे ।
 तथा लागी हें सर्व चांचल्य दीजे ।
 मना सज्जना राघवीं वस्ती कीजे ॥३९॥

योग = संबंध, चांचल्य = चंचलता

चारों वेदों सहित समस्त शास्त्र जिस अनंत प्रभु का वर्णन करते हैं, स्तुति करते हैं, उस प्रभु से नाता जोड़ने से बड़ा सन्तोष मिलता है । रे मन उस प्रभु को अपनी सारी चंचलता, अपनी अस्थिरता समर्पित कर दो और उसे अपने हृदय में, चित्त में बसा लो जिससे शाश्वत आनंद पा सकोगे ।

विवेचन :

१) ऋषि-मुनियों ने वेदों में प्रभु का वर्णन किया है, तत्त्वज्ञानियों ने शास्त्रों में उसका ही विवेचन किया है, मीमांसा की है । और कथाकारों ने पुराणों में उसी ईश्वर का गुणगान किया है । ईश्वर शाश्वत आनंदरूप है । अतः उसके पास दुःख का नामोनिशान नहीं रहता ।

२) हर एक मनुष्य शांति की, संतोष की खोज करता है । उसके लिए वह जीवन भर निरंतर चेष्टा करता है, प्रयत्न करता है । परंतु भूल जाता है कि ऋषि-मुनियों को, स्वानुभवी तत्त्वज्ञानियों को, संतों को और भक्तों को वह शांति प्रभु के सान्निध्य में अपना सब कुछ गँवाकर ही प्राप्त होती है ।

३) प्रभु हमारे अंतःकरण में बसते हैं किन्तु बाधा है अपने ही चंचल अस्थिर मन की ! वह इधर उधर भटकता फिरता है । अपनी देह से मोह उसे सत्ता एवं सम्पत्ति बटोरने को उकसाता है । परंतु मन है बड़ा सामर्थ्यशाली । मन अगर ठान ले और अपना ध्यान प्रभु की ओर मोड़ ले तो वह भी प्रभु की तरह स्थिर और आनंदस्वरूप हो जाएगा । अतः प्रभु सान्निध्य में रहने की चेष्टा करनी चाहिए, प्रयत्न करना चाहिए । अपना सब कुछ प्रभु को अर्पण करने की आदत डालनी चाहिए ।

४) प्रभु से विमुख हुए इसी कारण हमारा उनसे वियोग हुआ । अगर प्रभु के समीप जाने का यत्न करें तो मिलन होना निश्चित है । प्रभु से मेल-मिलाप का अर्थ ही है परम् शान्ति की प्राप्ति । श्रीसमर्थजी मन से अनुरोध करते हैं कि हे सज्जन मन, सदा प्रभु को याद कर, प्रभु की शरण में रह !

मना पाविजे सर्व ही सुख जेथें ।
अती आदरे ठेविजे लक्ष तेथें ।
विवेकें कुडी कल्पना पालटीजे ।
मना सज्जना राघवीं वस्ती कीजे ॥४०॥

लक्ष = अनुसंधान

रे मन, जहाँ तुझे सारे सुख मिलने की अपेक्षा है वहीं तुझे विनम्र होकर अपना सारा ध्यान केन्द्रित करना चाहिए । सोच विचार कर अपनी कल्पनाओं में परिवर्तन ला । निरर्थक कामनाओं को त्याग दे और अच्छी मनोवृत्तियों को अपना ले । निर्मल बुद्धि से, श्रद्धा से अपना सारा ध्यान प्रभु की ओर लगा ।

विवेचन :

१, २) मनुष्य सुख की प्राप्ति के लिए निरंतर प्रयोग करता रहता है । परंतु प्राप्तसुख की मात्रा इच्छा के सापेक्ष बहुत ही अल्प होती है अर्थात् अल्प सुख के लिये हमें बहुत भारी कीमत चुकानी पड़ती है । सुख की कल्पना जब तक इन्द्रियों की सुख-संवेदना से जुड़ी है तब तक शाश्वत सुख कोसों दूर रहेगा । उसके बदले हम सुख का भण्डार, सुखनिधान परम् पिता परमेश्वर की ओर अगर अपना पूरा ध्यान केंद्रित करें और उसे प्राप्त करें तो परमोच्च संतोष प्राप्त हो सकेगा ।

३) कामक्रोधादि विकारों, दुष्ट वासनाओं, बुरी मनोवृत्तियों, अशुभ विचारों से मन दूषित होता है । दूषित मन बहुत स्थूल होता है । अतः सूक्ष्म का अनुसंधान रखने की क्षमता ही उसके पास नहीं होती । केवल सच्चिदानंद-स्वरूप ईश्वर ही संपूर्ण सुखनिधान है परंतु वह अगोचर है, अति सूक्ष्म है । उस सूक्ष्मता के स्तर पर पहुँचकर प्रभु के ध्यान में एकचित्त होने के लिए सभी दृश्य वस्तुओं से प्रेम त्यागना पड़ेगा । मन पवित्र होगा तभी हम प्रभु के ध्यान में एकाग्रचित्त हो सकते हैं ।

४) प्रभु तो सुख का सागर है । रे मन, उसमें डुबकी लगा लो तो सुख और संतोष से तृप्त हो जाओगे । कभी भयभीत न होना क्योंकि प्रभु सबकी रक्षा करने वाले हैं । जैसे बच्चा माँ के अस्तित्वबोध से निश्चिंत होकर खेलता है वैसे ही हम ईश्वर के अस्तित्वबोध से निर्भय होकर आनंदपूर्वक अपने सारे कार्य कर सकते हैं ।

बहु हिंडता सौख्य होणार नाहीं ।
शिणावे परी नातुडे हीत कांहीं ।
विचारें बरें अंतरा बोधवीजे ।
मना सज्जना राघवीं वस्ती कीजे ॥४१॥

हिंडणें = भ्रमण करना, सौख्य = सुख, अंतर = अंतःकरण

सुख को प्राप्त करने के लिए इधर उधर भटकने से व्यर्थ परिश्रम होता है । इस संसार से सुखप्राप्ति के धोखे में मत रहना । रे मन, तू आत्मचिंतन कर और सत्य के मार्ग पर चल । सुखनिधान तो तुम्हारे हृदय में ही है ।

विवेचन :

१, २) हम सुख, संतोष चाहते हैं । और उसे बाह्य जगत् के व्यक्तियों, स्थलों, वस्तुओं में खोजते रहते हैं । परंतु वह दूर दूर तक नहीं मिलता । कितनी दौड़ धूप और कितने परिश्रम यूँ ही निष्फल हो जाते हैं । सुख स्थायी स्वरूप में किसी एक व्यक्ति या स्थल या वस्तु में रहता ही नहीं तो मिलेगा कैसे ! इस निरर्थक भागदौड़ से व्यर्थ की मेहनत होती है परंतु शाश्वत सुख नहीं मिलता । स्थायी सुख प्रभु सान्निध्य में ही बसता है ।

३) पेट भरने के लिए बहुत सी चीजें अच्छी कह सकते हैं पर वे सब एक साथ तो नहीं खा सकते । वैसे ही श्रद्धासुमन चढ़ाने के कई स्थल हो सकते हैं । परंतु किसी एक रूप को मन में स्थापित करके स्थायी रूप से उसका चिंतन, पूजन करने से साधना के पथ पर आगे बढ़ा जा सकता है । अतः हमें अपने मन को समझाना चाहिए कि व्यर्थ की आपाधापी से बचें और प्रभु को अपने मन में बसा लें ।

४) आनंद तो सच्चिदानंद प्रभु के पास ही है । निर्गुण निराकार परब्रह्म किसी भी रूप में पूजा जा सकता है । एक बार हम उसे अपने हृदय में प्रतिष्ठापित कर लें तो फिर उसीका चिंतन आनंदप्राप्ति का माध्यम बन सकता है । श्रीसमर्थजी यहाँ मन को समझाने की चेष्टा कर रहे हैं कि रे मन, तू सज्जन है अतएव सज्जनों की भांति सदा प्रभु के समीप रह यानि अपने सारे कार्य प्रभु के लिए प्रभु का नाम लेते हुए कर ।

बहुता परी हैं चि आता धरावें ।
रघूनाथका आपलेसें करावे ।
दिनानाथ हैं तोडरी ब्रीद गाजे ।
मना सज्जना राघवीं वस्ती कीजे ॥४२॥

दिनानाथ = दीनबन्धु = ईश्वर

रे मन, तुम्हें बहुत प्रकार से समझाया । और सभी बातें चाहे भूल भी जाओ परंतु यह एक बात ध्यान में रखो कि प्रभु से नाता जोड़ना है । प्रभु तो 'दीनबन्धु' कहलाते हैं । रे मन उनकी शरण में जाने से ही तुम्हें सच्चा सुख प्राप्त हो सकेगा । अतः सदा के लिये प्रभु का ही आश्रय लेने की ठान ले ।

विवेचन :

१) रे मन, तुम्हें बहुत समझाया कि प्रभु की भक्ति करो, चंचलता त्याग दो, विकारों को प्रभु को समर्पित कर दो, एकाग्र चित्त से साधना करो । मनुष्य के तर्क और मनुष्य की वाणी को सीमाएं हैं । यह बात सच है कि श्रीसमर्थजी को समझाने का आलस नहीं है । परंतु यह कहाँ तक ठीक है कि हम केवल श्रवण ही करते रहें । श्रवण के पश्चात उसका मनन होना चाहिए, चिंतन होना चाहिए । जिस विषय पर हम मनन चिंतन करते हैं वह बात अंतःकरण में पैठ जाती है ।

२) सब बातों की एक बात कि चाहे जैसे करो पर प्रभु को अपना बना लो । प्रभु को अपनाओगे तो सच्चा सुख पाओगे । वह सबका हितैषी है । उसे अपना स्वामी बना लो । उस पर सर्वस्व न्येछावर कर दो ।

३) यह सर्वविदित है कि ईश्वर दीनानाथ है । जिसका कोई नहीं उसको भगवान सहारा देते हैं । परंतु दीन मतलब आलसी नहीं ! दीन वह जिसका अहंकार मिट गया हो, जो जान चुका हो कि ईश्वर को छोड़ दूसरी कोई शक्ति उसकी सहायता नहीं कर सकती ! दीन वह जो प्रभु का सेवक हो, जिसने अपनी सारी इच्छाएं प्रभु पर न्येछावर कर दी हों ।

४) श्रीसमर्थजी का सुझाव है कि मनुष्य को सदा ईश्वर के सान्निध्य में समय गुजारना चाहिए । अपने विचार, अपने कार्य, अपना सब कुछ उसी का तो दिया है । उसी को सौंप कर उसी पर सब कुछ न्येछावर करके जीवन बिताना यानि आनंद में विलीन हो जाना । अतः हे सज्जन मन, तुम अपना बसेरा ईश्वर की शरण में डाल लो ।

मना सज्जना एक जीवी धरावे ।
जनी आपुलें हीत तुवां करावें ।
रघुनाथकावीण बोलों नको हो ।
सदा मानसी तो निजध्यास राहो ॥४३॥

निजध्यास = ध्यान = अभ्यास

हे सज्जन मन, अपने अंतःकरण में एक बात गाँठ बांध लेना । इस जीवन में तुम ही अपना कल्याण कर सकते हो । प्रभु से विमुख हो कर किसी विषय में मत उलझना । दिनरात प्रभु का स्मरण रखने का प्रयत्न ही साधना है ।

विवेचन :

१, २) श्रीसमर्थजी यहाँ मन को उपदेश दे रहे हैं कि रे मन, तू सज्जन है अतः मेरी बात मान ले । इस बात को गहराई से लेना कि अपन हित तुम स्वयं ही कर सकते हो । मुँह में कौर कोई दूसरा दे सकता है पर चबाना तो खुद को ही है । अतः कोई भी रास्ता अपनाने से पहले जरा सोच कि क्या वही सही रास्ता है । जिस राह में प्रभु नहीं वह भला कैसे उचित हो सकता है ।

३) मनुष्य के जीवन में वाणी का अति महत्व है । मनुष्य के मन की बात वाणी के माध्यम से प्रकट होती है । अतः प्रभु से मन जुड़ने के लिए पहले वाणी का नाता प्रभु से जोड़ दो । जब भी बोलो प्रभु के बारे में बोलो या प्रभु का नाम लेकर बोलो । नित्य व्यवहार में सारे आवश्यक कार्य करते समय प्रभु का स्मरण रखना उचित रहेगा । ध्यान रहे कि सभी कार्य प्रभु की प्रेरणा से ही मन में उदित होते हैं ।

४) यह तो बाह्य दृश्य भाग हुआ । लौकिक, सांसारिक कार्य न कर रहे हों उस समय मन में प्रभु का सदा स्मरण रखने का प्रयत्न करें । प्रभु का गुणगान निरंतर करना जितना आसान है, उतना उनका सतत स्मरण रखना, उनका अनुसंधान बनाए रखना आसान नहीं है । प्रथम जागृतावस्था में सदैव प्रभु की स्मृति रखने की कोशिश, प्रभु को मन में स्थिर रखने की कला साध्य करनी चाहिए । उसके पश्चात स्वप्न तथा प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में उसका सतत स्मरण रखने का अभ्यास कर सकते हैं ।

मना रे जनीं मौन मुद्रा धरावी ।
 कथा आदरें राघवाचि करावी ।
 नसे राम ते धाम सोडोनि द्यावे ।
 सुखालागी आरण्य सेवीत जावे ॥४४॥

मौन = चुप्पी, धाम = स्थान, आरण्य = वन = निर्जन प्रदेश

रे मन, समाज में काम करते समय संभवतः चुप रहना चाहिए । यदि बोलना ही है तो अति प्रेम से प्रभु का गुणगान करो, राम कथा का बखान करो । वह स्थान, चाहे फिर अपना घर ही क्यों न हो, अगर वहाँ प्रभु प्रेम नहीं, प्रभु के प्रति आदर नहीं तो वह स्थान छोड़ देना चाहिए । भले ही वन में, एकांत में ही क्यों न रहना पड़े परंतु प्रभु सान्निध्य में निश्चय ही अधिक सुख है ।

विवेचन :

१) मौन और मुनि दोनों शब्द 'मन्' धातु से बने हैं । मन् का अर्थ है चिंतन करना, विचार करना । मौनावस्था में वाणी का निग्रह या संयम करना पड़ता है । आश्चर्य की बात यह है कि मन का संयम करने से ही वाणी का सच्चा यथार्थ संयम हो सकता है । अतः मन का संयम ही मौन है ऐसा श्रीसमर्थजी ने अप्रत्यक्ष रूप से सूचित किया है । मौन-मुद्रा का अर्थ है कि मनःपूर्वक, एकाग्रता से प्रभु का चिंतन करना अथवा उनका निदिध्यासन करना ।

२) मौनव्रत लेनेवाले पुरुष की वृथा बोलने की प्रवृत्ति छूट जाती है । अगर अधिक बोलना आवश्यक होगा तो वह प्रभु का गुणगान करता है ।

३) अखण्ड प्रभु-चिंतन ही साधक के अध्यात्म-जीवन का प्राण होता है । जहाँ मनोवांछित प्रभु-चिंतन किया जा सके उस स्थान को वह उत्तम मानता है । और जहाँ उसके प्रभु-स्मरण में बाधा उत्पन्न होती है, उस स्थान को वह छोड़ देता है ।

४) श्रीसमर्थजी का मानना है कि यदि इस संसार में अपनों के बीच प्रभु स्मरण में बाधा आती जान पड़े, तो प्रसंगानुसार निर्जन वन में जाकर भी आत्मचिंतन के आनंद का अनुभव लिया जा सकता है । परंतु जहाँ राम नहीं वहाँ चैन नहीं !

जयाचेनि संगे समाधान भंगे ।
 अहंता अकस्मात् येऊनि लागे ।
 तथे संगति ची जनीं कोण गोडी ।
 जये संगति ने मति राम सोडि ॥४५॥

भंगणे = नष्ट होना, अहंता = अहंकार, मति = बुद्धि

बुरी संगत से मन की शांति भंग हो जाती है । अहंकार बढ़ जाता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य की विवेकबुद्धि छिन जाती है और प्रभु-स्मरण भी छूट जाता है । ऐसी कुसंगति भला किस काम की !

विवेचन :

१) मनुष्य स्वभाव से एक समाजप्रिय व्यक्ति है । दूसरों की संगत प्रभु-प्रेम के लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक भी हो सकती है और हानिकारक भी । अध्यात्म प्राप्ति का पहला चरण है कि मन में सदा संतोष का अनुभव करना । ऐसा वातावरण और ऐसी संगत तुरंत त्याग देनी चाहिए जहाँ हृदय में संतोष न हो ।

२) यह विशाल सृष्टि प्रभु की बनाई है । मानव का अस्तित्व तुलना में बहुत ही छोटा है । मनुष्य जानता है कि कोई भी घटना या उसके परिणाम उसके वश में नहीं हैं फिर भी कार्य पूरा होने की खुशी या थोड़ी सी सराहना उसका अहंकार जागृत करने के लिए काफी होती है । अपनी देह से प्रेम एवं अपने अस्तित्व का अहंकार मनुष्य की साधना में विघ्न उपस्थित करते हैं, उसे प्रभु सेवा में लीन होने से रोकते हैं । अतएव ऐसी संगत को त्यागना ही उचित है जो मनुष्य के मन में अहंकार जगाए ।

३,४) ऐसे लोगों से संबंध जोड़ना कि जिन्हें प्रभु की लगन है, सच्ची चाह है, अध्यात्म साधना का एक अंग है । और प्रभु से मुँह मोड़नेवालों से संबंध त्याग देना साधक के लिए नितांत आवश्यक है । इसी कारण से जिस घर में राम नहीं है, प्रभु-आस्था नहीं है, उस घर का त्याग करने में कोई दोष नहीं है । अगर कोई प्रभु-भक्त, प्रभु-प्रेमी साथ देने को ना मिले तो साधक अवश्य निर्जन वन के एकांत में रहकर भी साधना कर सकता है । दुर्जन की संगत की अपेक्षा अकेले रहना कहीं अधिक अच्छा !

मना जे घड़ी राघवेवीण गेली ।
जनीं आपुली ते तुवां हानि केली ।
रघुनायकावीण तो शीण आहे ।
जनी दक्ष तो लक्ष लावूनि पाहे ॥४६॥

घड़ी = पल = क्षण, दक्ष = चतुर = तत्पर

रे मन, प्रभु-चिंतन के बिना हम जो समय व्यर्थ गँवाते हैं, उससे हमारा ही नुकसान होता है। प्रभु स्मरण के बिना किए गए कार्य व्यर्थ परिश्रम हैं। उनसे संतोष नहीं मिल सकता। चतुर भक्त समय के सदुपयोग के लिए अतीव सावधान रहता है।

विवेचन :

१) यह समझ लो कि इस जीवन का ध्येय प्रभु-दर्शन ही है। निरंतर प्रभु-स्मरण जीवन-साधन है और प्रभु का विस्मरण जीवन-हनन है। मनुष्य के पास कुछ न होते हुए भी अगर प्रभु का स्मरण है तो सब कुछ है। अगर प्रभु का विस्मरण हुआ तो सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं है।

२) यहाँ श्रीसमर्थजी साधक को संकेत दे रहे हैं कि एकाग्रता से, ध्यानपूर्वक सदैव प्रभु-चिंतन करो। जीवन में प्रभु स्मरण के बिना एक पल भी नहीं बिताओ अन्यथा बड़ी हानि होगी।

३) हमारा ध्येय अगर भगवान से जुड़ा न हो, कार्य की बागडोर अगर भगवान का नाम लेकर उसकी प्रेरणा से न थामी हो तो ऐसा कार्य सत्कर्म की व्याख्या से वंचित व्यर्थ परिश्रम ही कहलाएगा।

४) ध्येय की दिशा और कार्य की दिशा का एक होना अनिवार्य है। अगर दिल्ली जाना है तो टिकट दिल्ली का लेना पड़ेगा फिर चाहे बस से जाओ, रेलगाड़ी से या फिर हवाईजहाज से ! प्रभु का भक्त अपने लक्ष्य के प्रति सदैव सावधान रहता है। वह जानता है कि क्षणिक मोह माया उसे उन्नति के पथ से नीचे खींच सकते हैं। अतः वह भूल होने ही नहीं देता और होती है तो अपने में सुधार लाने के लिए सदैव तत्पर रहता है।

मनी लोचनी श्रीहरी तोचि पाहे ।
जनीं जाणता भक्त होऊनि राहे ।
गुणी प्रीति राखे क्रमूं साधनाचा ।
जगी धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा ॥४७॥

लोचन = नेत्र, जाणता = ज्ञानी, गुणी = सगुण रूप में सर्वोत्तम = ईश्वर

जो अंतःकरण में ज्ञानचक्षु से प्रभु का निर्गुण रूप और बाहरी आँखों से सगुण रूप देखता है, वह ज्ञानी भक्त बनकर संसार में कार्यरत रहता है। वह धन्य है जो सगुणभक्ति और साधना की परंपरा का क्रम स्थाई रूप से अपनाता है।

विवेचन :

१) विश्व रूप में प्रकट हुआ आनंदस्वरूप ब्रह्म अंतरंग में सूक्ष्म और निर्गुण है तो प्रकट में स्थूल और सगुण है। भक्त अपने मनःचक्षुओं से निर्गुण रूप देखता है तो इन्द्रियों से सृष्टि में सगुण रूप देखता है। जड़ चेतन सभी में भक्त ईश्वर के दर्शन पा लेता है।

२) उपासक का धीरे धीरे उपास्य देवता से तादात्म्य होने लगता है और अंत में जब वह प्रभु से एकाकार हो जाता है तब उसके जीवन में ईश्वरानुभूति का अलौकिक ज्ञान एवं सृष्टि के निःस्वार्थ प्रेम का सुंदर संगम दिखाई पड़ता है। उसके आचरण से श्रेष्ठ मानवधर्म छलकता है।

३) ज्ञानी भक्त को साधन रूपी सीढ़ियों की आवश्यकता नहीं होती। वह तो निरंतर प्रभु सान्निध्य में ही रहता है। परंतु उसके सहवास में रहनेवाले लोगों का प्रभु-स्मरण दृढ़ करने के लिए वह स्वयं श्रवण, मनन, पूजा, सेवा आदि का साधनक्रम एवं दिनचर्या पूर्ववत् रखता है।

४) मानवीय जीवन का श्रेष्ठतम मूल्य दर्शाने के लिए श्रीसमर्थजी 'सर्वोत्तम' शब्द प्रयोग करते हैं। जो सभी ओर से उत्तम है और जो सभी अवस्थाओं में उत्तम है वह सर्वोत्तम है। सच्चिदानंद स्वरूप ईश्वर के अलावा अन्य कुछ सर्वोत्तम हो ही नहीं सकता। श्रीसमर्थजी का स्पष्ट अभिप्राय है कि प्रभु का सेवक ही जीवन में श्रेष्ठ तथा पवित्र ध्येयपूर्ति से तृप्त होकर कृतकृत्य होता है, धन्य होता है। प्रभु भक्त ही भाग्यवान तथा पुण्यवान सिद्ध होता है।

सदा देवकाजीं झिजे देह ज्याचा ।
सदा रामनामें वदे नित्य वाचा ।
स्वधर्मोचि चाले सदा उत्तमाचा ।
जगी धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा ॥४८॥

जो भक्त अपनी देह निरंतर प्रभु कार्य में ही लगाता है, वाणी से प्रभु नाम लेता रहता है और प्राप्त हुए स्वधर्म का समाज में उत्तम रीति से निर्वाह करता है, पालन करता है वह मनुष्य सर्वोत्तम का यानि प्रभु का उत्कृष्ट भक्त है। ऐसे भक्त का जीवन धन्य होता है।

विवेचन :

१) भक्त अपनी देह को ईश्वर के कार्य के लिए न्योछावर कर देता है। मानव समाज में प्रभु-कार्य दो प्रकार से होता है। प्रथम स्वयं को निरंतर ईश्वर सम्मुख रखकर ईश्वर का अनुसंधान रखना, तदुपरांत सम्पर्क में आने वाले हर व्यक्ति को ईश्वर-सम्मुख करना। संकटग्रस्तों को संकट से मुक्ति दिलाना, पीड़ितों की सहायता करना, भटके हुए को सन्मार्ग दिखाना, ये सभी कर्तव्य परमात्मा का स्मरण कर भक्त स्वयं करता है।

२) भक्त नित्य प्रभु नाम जपता है। अखण्ड प्रभु-स्मरण के लिए वाणी से प्रभु नाम जपने जैसा दूसरा सरल और परिणामकारक साधन नहीं है। व्यवहारिक वार्तालाप करते समय प्रत्यक्ष वाणी से नाम लेना संभव नहीं होता परंतु भक्त अंतरंग में परावाणी से निरन्तर नामस्मरण करता रहता है।

३) ईश्वर के भक्त के लिए ऐसा कोई कड़ा ठोस नियम नहीं है कि वह प्रभुकार्य किस तरह करे ! भक्त की मनोधरणा, उसका समाज में स्थान, उसकी सामाजिक योग्यता, उसके आसपास की परिस्थिति आदि विषयों पर उसके कार्य का व्यक्त स्वरूप निर्भर होता है, वही स्वधर्म कहलाता है। परंतु एक बार अपने कार्य की पद्धति निश्चित हो जाए तो उस ओर वह अपने तन मन की पूरी ताकत लगा देता है। यही कारण है कि उसका कार्य उत्तम रीति से सम्पन्न होता है एवं उससे समाज का कल्याण होता है।

४) जो देह से सदा प्रभु कार्य में व्यस्त है, जिसकी वाणी नित्य रामनाम का जयघोष करती है, जो अपना कार्य लगन से करता है वही प्रभु का सर्वोत्तम दास कहलाता है।

सदा बोलण्यासारिखें चालताहे ।
अनेकीं सदा एक देवासि पाहे ।
सगुणीं भजे लेश नाहीं भ्रमाचा ।
जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा ॥४९॥

भक्त जो कहता है वैसा ही आचरण करता है। वह हर वस्तु में, सभी प्राणीमात्रों में ईश्वर का रूप देखता है। वह सगुण देवताओं की पूजा, अर्चना करता है पर उसके मन में प्रभु के सत्य स्वरूप संबंधी जरा भी संदेह नहीं रहता। ऐसा विचारक भक्त ही प्रभु का उत्तम भक्त कहलाता है।

विवेचन :

१) अंतरंग और आचरण दोनों में अनुरूपता होना भक्त के स्वस्थ और विकसित व्यक्तिमत्व की प्रमुख पहचान है। वह जैसा विचार करता है वैसी ही भाषा बोलता है और वैसे ही कर्म करता है। भक्त अति विचारशील होता है। वह स्वयं सत्य और नीति के मार्ग पर चलता है और दूसरों को सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है।

२) यह विश्व विविधता से परिपूर्ण है। परंतु ईश्वर ने उसे अपने अस्तित्व से एकसूत्र में पिरो दिया है। सामान्य मनुष्य समूचे विश्व की रचना में सिर्फ अनेकत्व का दृश्य अंग ही देख पाता है। परंतु भक्त एकत्व का अदृश्य अंग भी देख सकता है। विविध रूपों में व्याप्त एक ही आत्मतत्व का वह सक्षात् अनुभव करता है।

३) सगुण दृश्य होता है तो निर्गुण अदृश्य। सगुण को निर्गुण की जितनी आवश्यकता होती है, उतनी निर्गुण को सगुण की नहीं ! परंतु निर्गुण का ऐश्वर्य, सौन्दर्य तथा सामर्थ्य सगुण द्वारा ही प्रकट होता है। अतएव सिद्धावस्था प्राप्त होते हुए भी भक्त सगुणोपासना करता है। वह जानता है कि सगुण अन्तिम सद्द्वस्तु नहीं है अपितु उस तक पहुँचने का मात्र एक माध्यम है। दृश्य की सत्यता का भ्रम उसे कदापि नहीं घेरता।

४) जिसके आचार विचारों में अंतर नहीं, जो सब में परमात्मा के रूप को देख सकता है, जो सगुण देवता की उपासना निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए करता है, जिसके मन में प्रभु के निराकार सत्य स्वरूप संबंधी जरा भी संदेह नहीं रहता ऐसा विचारक भक्त ही प्रभु का उत्तम भक्त कहलाता है।

नसे अंतरी कामकारी विकारी ।
 उदासीन जो तापसी ब्रह्मचारी ।
 निवाला मनीं लेश नहीं तमाचा ।
 जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा ॥५०॥

अंतरी = मन में, ब्रह्मचारी = काम, वासना से अलिप्त, लेश = अल्प

जो वासनाओं से मलिन नहीं, जो उदासीन और निरपेक्ष हो, जो तपश्चर्या में मग्न हो, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हो, जिसके मन में जरा भी क्रोध नहीं, वह शान्त, ज्ञानी व्यक्ति ही प्रभु-भक्ति का सर्वोच्च अधिकारी है ।

विवेचन :

१) काम शब्द 'कम्' धातु से बना है जिसका अर्थ है मोहित होना । मनुष्य की इच्छा की पार्श्वभूमि में उसकी कामवासना होती है । वासना जागृत होने पर मन अस्वस्थ हो जाता है, बुद्धि साथ नहीं देती । अगर मन को काबू में रखने वाली शक्ति ना रहे तो मन में अनेक अपवित्र विचार उत्पन्न होते हैं । अधःपतन करनेवाली कामवासना भक्त को कभी स्पर्श नहीं करती ।

२) 'उदासीन' शब्द विपरीत अर्थ से प्रचलित है । 'उत' का अर्थ है ऊपर यानि श्रेष्ठ । उदासीन का अर्थ है श्रेष्ठ स्तर पर आसीन । देह के माध्यम से सुख-प्राप्ति की प्रवृत्ति छोड़कर जो प्रभु चरण में समर्पित, स्थिर और श्रेष्ठ बुद्धि रखता है वही सही अर्थ में उदासीन है । ध्येयपूर्ति के लिए आवश्यक साधना नियमबद्ध तरीके से वर्षों तक करते रहना ही तपस्या है । कामवासना और रसना पर नियंत्रण रखना ब्रह्मचर्य है । वैवाहिक जीवन में भी ब्रह्मचर्य का आचरण अपना सकते हैं । कला और विद्या की उपासना करनी है तो ब्रह्मचर्य आवश्यक है । ईश्वर की उपासना में उसका असाधारण महत्व है ।

३) तम का अर्थ है क्रोध का आवेश या उन्माद । कामेच्छा पूर्ण न होने से क्रोध पैदा होता है और क्रोध मन में क्षोभ उत्पन्न करता है । सन्त क्रोध को चाण्डाल की संज्ञा देते हैं । ईश्वर-भक्त मन में क्रोध उत्पन्न नहीं होने देता ।

४) श्रीसमर्थजी इस श्लोक में बता रहे हैं कि भक्त कभी काम विकारों के अधीन नहीं होता । वह आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला तपस्वी होता है । क्रोध उसके मन को छूता नहीं । भक्त का चित्त सदैव शांत रहता है । ऐसा संयमी भक्त जगत् में धन्य है ।

मदे मत्सरें सांडिली स्वार्थबुद्धि ।
 प्रपंचीक नाहीं जयाते उपाधि ।
 सदा बोलणे नम्र वाचा सुवाचा ।
 जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा ॥५१॥

मद = अहंकार

जो अहंकार रहित है, कभी किसी से ईर्ष्या नहीं करता, जो स्वार्थी नहीं है, सदैव सांसारिक पाशों से दूर रहता है और अति विनम्र है, प्रिय वाणी ही बोलता है, ऐसा भक्त धन्य होता है, कृतकृत्य होता है, प्रभु का सर्वश्रेष्ठ भक्त कहलाता है ।

विवेचन :

१) जीवन का नियम है कि मनुष्य जिन मान्यताओं का चिंतन करता है, उन्हीं गुणों का वह अनुकरण करता है । श्रद्धाहीन मनुष्य सिर्फ अपनी देह का चिंतन करता है । इससे वह स्वार्थी बनता है, अहंकार और ईर्ष्या के अधीन हो जाता है । परमात्मा से मन से तन्मय एकाकार हुआ भक्त मत्सर, क्रोध आदि विकारों से अपनेआप ही दूर हट जाता है ।

२) आशा और वासना ये दोनों स्वार्थपरायणता का संवर्धन करती हैं । परंतु भक्त अपनी वासना प्रभु को अर्पित करता है । अतः उसकी स्वार्थबुद्धि अनायास ही नष्ट हो जाती है । देह का प्रेम अर्थात् दृश्य का प्रेम । भक्त देह को अपनी समझता ही नहीं । देह का ममत्व उससे छूट जाता है, प्रपंच का बंधन नहीं रहता । संसार के मोह जाल में वह नहीं फंसता ।

३) भक्त के श्रेष्ठ लक्षण, उसके आंतरिक गुणधर्म, भक्त की वाणी से प्रकट होते हैं । उसकी वाणी अति नम्र होती है, आनंददायक होती है । वह सदा मृदुभाषी होता है । उसकी वाणी से प्रसन्नता झलकती है । वह निष्कपट भाव से दूसरे की भलाई के लिए बोलता है ।

४) श्रीसमर्थजी कहते हैं कि वह भक्त जो लोभ व ईर्ष्या से परे है, जिसको जीवन निर्वाह के लिए प्रतिष्ठित पदों की, नित नूतन सम्मान की, अलंकारों की आवश्यकता नहीं पड़ती, जो सदा विनम्र और मृदुभाषी है, वही ईश्वर का उत्तम भक्त कहलाता है ।

क्रमी वेळ जो तत्वचिंतानुवादे ।
न लिपे कदा दंभवादे विवादे ।
करी सुखसंवाद जो ऊगमाचा ।
जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा ॥५२॥

जो भक्त ईश्वर स्वरूप का सदैव चिंतन करता है और उसकी लीलाओं का बखान करने में अपना समय आनंद से व्यतीत करता है, जो असत्य तर्कों और झूठे प्रतिवादों में कभी लिप्त नहीं होता और विश्व की उत्पत्ति के विषय में जो प्रेम से विवेचन करता है, ऐसा भक्त प्रभु का उत्तम भक्त कहलाता है ।

विवेचन :

१) यह नहीं भूलना चाहिए कि श्रीसमर्थजी की प्रतिपादित भक्ति बहुत ही विवेक प्रधान है । भक्त का विवेक दो तरह का होता है - पहला ईश्वर स्वरूप का चिंतन और मनन करना और दूसरा बातचीत द्वारा जिज्ञासुओं को ईश्वर-स्वरूप का ज्ञान कराना । भक्त एकांत में, ध्यानावस्था में प्रभु से एकरूप हो जाता है । एकांत में चिंतन करते समय वह अपने आप से बातचीत करता है, संवाद करता है । यही सुखसंवाद है ।

२) ईश्वर का भक्त अपना समय वादविवादों में व्यर्थ नहीं गवाँता । अहंकार में लिपटा हुआ उँची आवाज में कहा हुआ झूठ समाज के लिए घातक है । सत्य को ना जानना या ना मानना दोनों ही मनुष्य का अधः पतन करते हैं ।

३) भक्त ईश्वर प्रेमी जिज्ञासुओं के साथ प्रश्नोत्तर रूप में वार्तालाप करता है जो सुखसंवाद की श्रेणी में आता है । भक्त की बुद्धि प्रभु-परायण होती है । उसके पास झूठा अयोग्य प्रतिवाद कभी नहीं रहता । ऐसा वार्तालाप समाज के उत्थान के लिए सहायक सिद्ध होता है ।

४) श्रीसमर्थजी कहते हैं कि जो भक्त अपना समय ईश्वर चिंतन में बिताता है, जो व्यर्थ के विवादों में नहीं फँसता, जो नित्य ईश्वरी तत्व और सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में सुखसंवाद करने में आनंद उठाता है, वही ईश्वर का श्रेष्ठ भक्त कहलाता है ।

सदा आर्जवी प्रिय जो सर्व लोकीं ।
सदा सर्वदा सत्यवादी विवेकी ।
न बोले कदा मिथ्य वाचा त्रिवाचा ।
जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा ॥५३॥

आर्जवी = विनीत, मिथ्य = झूठ, त्रिवाचा = असम्बद्ध

जो भक्त स्वभाव से अति विनीत और सुशील है, जिसका आचरण पूर्णतः निष्कपट है, जो सबका प्यारा है, जिसका विवेक कभी धूमिल नहीं होता, जो सत्यवादी है, कभी असम्बद्ध नहीं बोलता, प्रभु का सर्वश्रेष्ठ भक्त कहलाता है ।

विवेचन :

१) भक्त निष्कपट होता है, इसमें दो राय नहीं । परंतु वह बावरा नहीं है । वह किसी को धोखा नहीं देता । साथ ही वह इतना मूर्ख भी नहीं कि किसी से यूँ ही धोखा खा जाए, ठगा जाए ! कपटी मनुष्य का कपट जानते हुए भी भक्त उससे निर्मल व्यवहार करता है । अपनी सज्जनता से वह सबका प्यारा बनता है ।

२) स्वार्थविरहित जनप्रियत्व और विवेकपूर्ण सत्यभाषण इन दो गुणधर्मों को श्रीसमर्थजी विशेष प्राधान्य देते हैं । भक्त सत्यवादी होता है साथ ही अपनी सूझबूझ से उचित आचरण अपनाता है । प्रभु का जीता जागता सहवास ही उसका आश्रय स्थान होता है । इसीलिए वह हर एक वस्तु, व्यक्ति तथा घटना का सही मूल्य जानता है । विषम परिस्थितियों में भी उसका विवेक जागृत रहता है ।

३) भक्त की क्रिया का केंद्रस्थान ईश्वर होता है । यही कारण है कि उसे कभी किसी स्वार्थ के लिए या किसी का अहित करने के लिए मिथ्या वचनों की आवश्यकता नहीं जान पड़ती । उसका सारा ध्यान प्रभु से जुड़ा होता है अतः अनुचित भाषा या वचन उसके मुख से निकल ही नहीं सकते । वह अपनी वाणी का उपयोग सदैव दूसरों को सन्मार्ग दिखाने के लिए करता है तो असम्बद्ध भाषण का प्रश्न ही नहीं उठता ।

४) जिस जीवन में विवेक का आधिपत्य होता है ऐसे जीवन में असत्य, असभ्य वचन, निरर्थक, असम्बद्ध भाषण का कोई स्थान नहीं है । सत्यनिष्ठ परम विवेकी भक्त ही प्रभु का उत्तम भक्त कहलाता है ।

सदा सेवि आरण्य तारुण्यकाळी ।
मिळेना कदा कल्पनेचेनि मेळीं ।
चळेना मनीं निश्चयो दृढ ज्याचा ।
जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा ॥५४॥

युवावस्था में ही जो निर्जन स्थान में एकांतवास में अपनी साधना करता है, लोगों में ईश्वर संबंधी उत्पन्न विभिन्न मतों के कोलाहल में जो कभी नहीं उलझता, जिसका प्रभु-दर्शन का दृढ़ संकल्प विकारों के आघात से नहीं टूटता, ऐसा दृढ़ निश्चयी भक्त, प्रभु का श्रेष्ठ भक्त कहलाता है ।

विवेचन :

१) उत्तम भक्त युवावस्था में ही ईश्वर साधना का आरंभ कर देते हैं । यथेच्छ प्रभुचिंतन के लिए वे निर्जन स्थान में एकांतवास में रहते हैं । अनेक वर्षों तक ब्रह्मचर्य को धारण करके प्रभुचिंतन के पश्चात मन विरक्तावस्था को प्राप्त होता है । तत्पश्चात आसक्ति रहित होकर भक्त समाज में सुरक्षित रह सकता है । समाज में अलिप्तता से रहकर वह अपना कार्य कर सकता है ।

२) भारतीय समाज में विविध सांस्कृतिक स्तरों पर अनेक तरह की ईश्वर संबंधी कल्पनाएं प्रचलित हैं । उनके आपसी कोलाहल के पीछे न भागते हुए साधक अपनी श्रद्धा को अविचल, स्थिर बनाए रखे यही उचित है ।

३) वृद्धावस्था में इन्द्रियां काम नहीं देतीं इसलिए भोग कुछ हद तक छूट जाता है परंतु मोह फिर भी बना रहता है । युवावस्था ही इन्द्रियों पर काबू पाने का सही अवसर है । यह देह और उसके भोग प्रभुकार्य करने के लिए यंत्रवत माध्यम भर हैं न कि अंतिम लक्ष्य ! अतः प्रथम दृढ़ विश्वास से एकांत सेवन कर प्रभु-चिंतन का अभ्यास करना आवश्यक है । प्रभुचिंतन जितना गहरा होता जाएगा उतना ही मन निःसंशय बनेगा और प्रभु के प्रति श्रद्धा बढ़ेगी ।

४) श्रीसमर्थजी कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्य का उचित पालन करता है, विषम कल्पनाओं से सुख दुख के फेरे में नहीं पड़ता, वासनाओं के वश होकर जिसका प्रभुप्राप्ति का संकल्प खंडित नहीं होता, ऐसा भक्त ही ईश्वर का उत्तम भक्त कहलाता है ।

नसे मानसी नष्ट आशा दुराशा ।
वसे अंतरी प्रेमपाशा पिपाशां ।
ऋणी देव हा भक्ति भावें जयाचा ।
जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा ॥५५॥

दुराशा = बुरी वासनाएं, पिपाशा = व्याकुलता, ऋणी = उपकार बद्ध

जिसके मन की दुष्ट वासनाएं नष्ट हो चुकी हैं और साथ ही सुखोपभोग की इच्छाएं भी शेष नहीं रहीं, जिसके मन में प्रभु को भक्ति-प्रेम से बांधने की तीव्र इच्छा है, और जिसकी शराणागतवृत्ति का प्रभु ऋणी है, ऐसा भक्त प्रभु का सर्वश्रेष्ठ भक्त कहलाता है ।

विवेचन :

१) सामान्य मनुष्य के जीवन का सुख चैन हरने वाली चिंता भक्त को नहीं रहती क्योंकि सत्ता और ऐश्वर्य प्राप्ति की भूख उसे नहीं सताती । अपनी देह से उसे प्रेम नहीं तो परिजनों से मोह का सवाल ही नहीं उठता !

२) भक्त के जीवन से संबंधित सकारात्मक और नकारात्मक दो भाव होते हैं । प्रभु के अतिरिक्त अन्य सभी दृश्य वस्तुओं का मन से सम्पूर्ण त्याग करना यह नकारात्मक भाव है । और प्रभु-प्रेम से ओतप्रोत हो जाना यह भक्त के अस्तित्व का सकारात्मक भाव है । जैसा प्रभु अनंत, असीम होता है वैसी उससे जुड़ी भक्त की प्रेम भावना भी असीम होती है । अतः प्रभु का चाहे जितना गुणगान कर ले फिर भी भक्त की अभिलाषा तृप्त नहीं होती । अपनी भक्ति से प्रभु को बांधना ही भक्त की पहचान है ।

३) भक्त का नाता सिर्फ प्रभु से शेष रहता है । जीवन के सारे कार्य वह प्रभु के जान कर करता है । सारे समय उसे प्रभु की लगन रहती है । सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास सारी स्थितियों में उसे प्रभु-प्रेम की दिव्य शक्ति अनुभूत होती है और यही कारण है कि वह प्रभु के गुण गाते नहीं थकता । “प्रभु उपकार बद्ध होता है” यह कथन भक्ति की भाषा में सत्य होता है ।

४) श्रीसमर्थजी यहाँ बताते हैं कि जो विषय वासनाओं से दूर है, जिसे सिर्फ प्रभु की चाह है, जिसने अपनी भक्ति से ईश्वर को ही ऋणी बना लिया हो ऐसा भक्त संसार में सर्वश्रेष्ठ भक्त कहलाता है ।

दिनाचा दयाळू मनाचा मवाळू ।
 स्नेहाळू कृपाळू जनीं दास पाळू ।
 तथा अंतरी क्रोध संताप कैचा ।
 जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा ॥५६॥

प्रभु का भक्त अनाथ तथा दुखी प्राणियों पर दया करता है । स्वभाव से जो कोमल अंतःकरण का है, सब से प्रेम करता है, शरणागत को आश्रय देता है, उसके मन में क्रोध तथा संताप नहीं होता । ऐसा भक्त प्रभु का उत्तम भक्त कहलाता है ।

विवेचन :

१, २) उत्तम भक्त का वर्णन करते हुए श्रीसमर्थजी कहते हैं कि प्रभु-दर्शन के पश्चात भक्त कृतकृत्य हो जाता है । वह केवल परोपकार में ही शेष जीवन व्यतीत करना चाहता है । अपने चारों तरफ अज्ञानी दीन दुखिया जनता को देखकर उसका अंतःकरण दया से भर उठता है । वह दूसरों के दुख-दर्द समझ कर, उनसे दोस्ती का नाता जोड़ कर उन पर कृपा बरसाता है । शरणागतों की रक्षा करना वह अपना कर्तव्य समझता है ।

३) लोग तो अज्ञानी तथा स्वार्थी होते हैं । वे अपनी गृहस्थी में सुख चैन चाहते हैं । गृहस्थी की अनुकूल परिस्थिती में तनिक भी न्यूनता आ जाए तो लोग तत्काल नाराज होकर अभी तक पाया हुआ सब भूल जाते हैं । ऐसे अवसर प्रायः आते रहते हैं । लोगों का उस समय का व्यवहार देखकर किसी को भी क्रोध आ जाए, कोई त्रस्त हो जाए तो कोई अनुचित बात नहीं है । स्वार्थी लोग भलाई के बदले दूषण ही अधिक देते हैं । विपरीत समय आने पर सच्चा भक्त व्याकुल नहीं होता, क्रोध नहीं करता । लोग क्या कहते हैं इसका विचार न करते हुए, प्रभु को क्या अच्छा लगता है यह सोचकर भक्त लोगों की तत्परता से सहायता करता है । लोगों के बुरे बर्ताव पर वह झल्लाता नहीं है, चिढ़ता नहीं है ।

४) भक्त को प्रभु भक्ति की लगन होती है । भक्ति ही उसके सुख का आश्रयस्थान होती है । दूसरों की कृतघ्नता पर उसे क्रोध नहीं आता । लोगों की अज्ञानता को क्षमा करने की, उन्हें प्रेमपूर्वक सही दिशा दिखाने की क्षमता सिर्फ भक्त में ही हो सकती है ।

जगी होइजे धन्य या रामनामें ।
 क्रिया भक्ति उपासना नित्य नेमें ।
 उदासीनता तत्वता सार आहे ।
 सदा सर्वदा मोकळी वृत्ति राहे ॥५७॥

तत्व = वास्तविकता, सार = निष्कर्ष, वृत्ति = मनःस्थिति

मनुष्य अगर कृतार्थ जीवन जीना चाहता है तो उसे हरि स्मरण करना आवश्यक है । ईश्वर की प्रतिदिन नियम से उपासना करे और अंतःकरण में प्रभु के प्रति श्रद्धा रखे । तात्पर्य यह है कि दृश्य वस्तुओं के प्रति अनासक्ति होगी तो वह विरक्त होकर निर्भय और स्वतंत्र जीवन व्यतीत कर सकेगा ।

विवेचन :

१) प्रभु सान्निध्य का ध्येय प्राप्त करने के लिए सबसे उपयोगी है हरिनाम । ऐसी प्रवृत्ति बनने के लिए श्रीसमर्थजी कहते हैं कि शरीर तथा मन का उचित तरह से नियमन करना अति आवश्यक है । जिसके अंतःकरण में प्रभु प्रेम का दिया जल रहा है उसका जीवन कृतार्थ है ।

२) धर्माचरण से जीवन में नियमबद्धता आती है, शरीर और मन पवित्र रहता है । इस संसार में सबसे मूल्यवान है ईश्वर-दर्शन । नित्यनियम से की हुई उपासना यहाँ अत्यन्त काम आती है । जिस मन्दिर में या घर में नित्योपासना नहीं है वहाँ ईश्वर का अस्तित्व नहीं ! ईश्वर भक्ति ही सारे सुखों का उगम है और हरिनाम ही सारे दुखों से सामना करने का अस्त्र !

३) सामान्य व्यक्ति अनेक सांसारिक मोह बंधनों में फँस परतंत्र हो जाते हैं । भक्त मुक्त होता है । मुक्तता का अर्थ है- वैराग्य, उदासीनता, निःसंगता एवं निष्कामता । आसक्ति रहित आचार विचार ही सन्मार्ग प्रज्वलित कर धैर्य से संकटों का सामना कर के समाज का उत्थान कर सकते हैं ।

४) उचित अनुचित का ज्ञान मनुष्य को होता है । परंतु परिजनों का मोह उसके निर्णयों में हस्तक्षेप करता है । अगर मोह को मनुष्य त्याग सके तो वह भयमुक्त होकर निष्ठा और ज्ञान-वृत्ति से सन्मार्ग के पथ पर समाज की सच्ची सेवा करते हुए मुक्त एवं प्रसन्न जीवन व्यतीत कर सकता है ।

नको वासना विषई वृत्ति रूपे ।
पदार्थी जडे कामना पूर्वपापें ।
सदा राम निष्काम चिंतीत जावा ।
मना कल्पनालेश तो ही नसावा ॥५८॥

रे मन, विचार और प्रवृत्ति के स्वरूप में वासना विकारों के आक्रमण से सावधान रहना । पूर्व पाप कर्मों के कारण सांसारिक वस्तुओं की अभिलाषा आप ही जागती है । अतः निरंतर निष्काम भाव से प्रभु का चिंतन करना जिससे मन में शान्ति का स्रोत बहने लगे और ऐश्वर्य प्राप्ति का कल्पना-विलास सदा के लिए विराम पा सके ।

विवेचन :

१) पाँच इंद्रियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पाँच रूपों से दृश्य का ज्ञान कराती हैं । इससे मन में इच्छा-अनिच्छा की जो लहरें उठती हैं उन्हीं को वृत्ति कहते हैं । मन में अभिलाषा का बसना ही वासना है जो नश्वर से नेह लगाती है । वासना अति सूक्ष्म होती है । वह जब वृत्ति रूप से आकार धारण कर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध आदि के पीछे लगती है तो मनुष्य दृश्यों में उलझ जाता है और हृदयस्थ प्रभु को भुला बैठता है ।

२) यह जन्म पिछले जन्म में पली वासनाओं का ही फल है । अतृप्त इच्छाएं पहले से ही हृदय में विराजमान हैं । अतः मन में कामना उत्पन्न होना स्वाभाविक है । उन्हें शांत करने के लिए प्रभु-चिंतन ही एकमात्र साधन है ।

३) प्रभु-चिंतन निष्काम होना चाहिए ! पूजा पाठ, दान धर्म के पीछे किसी लाभ की अपेक्षा न छिपी हो । निर्विकार भाव से की गयी प्रभु की वंदना निश्चित ही वासना विकारों का नाश करने में सहायक होगी ।

४) विचारों की गति सबसे तेज होती है । विचार नित नई कल्पनाओं को जन्म देते हैं । बुद्धि और कल्पनाओं का अंश वृत्ति में होता है । प्रथम वस्तु से सुख मिलेगा यह कल्पना, उसके उपरांत उसे प्राप्त करने हेतु अनुकरणीय मार्ग का शोध बुद्धि का काम होता है । बुद्धि को प्रभु-चिंतन में रमाना होगा और अनुमानों की कल्पनाओं की गति रोकनी होगी । तब मन अपने आप प्रभु-चरणों में स्थिर हो जाएगा ।

मना कल्पना कल्पितां कल्पकोटि ।
नव्हे रे नव्हे सर्वथा राम भेटी ।
मनी कामना राम नाही जयाला ।
अती आदरे प्रीति नाही तयाला ॥५९॥

राम भेटी = प्रभु-दर्शन

रे मन ! निरर्थक विविध कल्पनाएं करने से प्रभु दर्शन कदापि संभव नहीं है । उसके लिए प्रभु की आराधना प्रभु की उपासना करनी चाहिए । वासना भरे अंतःकरण से प्रभु प्राप्ति कैसे होगी । जब तक मन में दृढ़ भक्ति और ईश्वर के प्रति आदर की भावना नहीं है तब तक ईश्वर प्राप्ति नहीं हो सकती ।

विवेचन :

१) यह सच है कि जीवन में कल्पना, तर्क उपयोगी सिद्ध होते हैं । किन्तु वह कल्पना स्वेच्छाचारी निरंकुश बने तो ऐसी स्थिति आएगी कि ना ढंग से गृहस्थी होगी और ना ढंग से परमार्थ सधेगा । इन्द्रियों पर विजय, विकारों का नाश किए बगैर सिर्फ कल्पना करने से ईश्वर प्राप्ति का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता । उसके लिए दीर्घ साधना और तपस्या की आवश्यकता होती है ।

२) काल्पनिक जगत में निमग्न व्यक्ति से प्रभुचिंतन कदापि सम्भव नहीं ! निरंतर प्रभु-चिंतन के बिना प्रभु-दर्शन असाध्य है । रे मन व्यर्थ कल्पनाएं मत कर । सदाचरण का व्रत धारण कर और ईश साधना प्रारंभ कर !

३) मनुष्य के मन में जब तक वासनाएं हैं तब तक “मुझे प्रभु चाहिए” ऐसी चाह उसके मन में उत्पन्न नहीं होती । “मुझे ईश्वर चाहिए ही” ऐसी जब तक मन की भावना नहीं बनती तब तक ईश्वर का प्रेम उत्पन्न नहीं होता । प्रभु की चाह उत्पन्न होने के लिए उसका मोल, उसकी योग्यता तथा उसका महत्व जानना अति आवश्यक है ।

४) दृढ़ प्रभु-श्रद्धा से ही हृदय-कमल खिलता है । हृदयस्थ प्रभु के दर्शन से मन प्रसन्न होता है । मन में अगर प्रभु के प्रति आदर भाव नहीं है तो पूजा कैसे सफल होगी । जब तक स्वार्थ शेष है तब तक ईश्वर की उपासना भी फल की इच्छा लेकर की जाएगी । निष्काम भक्ति ही ईश्वर तक पहुँचने का सीधा सरल माध्यम है । अतः स्वार्थ त्यागने का प्रयत्न करना चाहिए ।

मना राम कल्पतरु कामधेनु ।
निधी सार चिंतामणी काय वानुं ।
जयाचेनि योगे घड़े सर्व सत्ता ।
तया साम्यता कायसी कोण आता ॥६०॥

कल्पतरु = इन्द्रलोक का एक वृक्ष जिसकी छाया में हर इच्छा पूरी होती है, कामधेनु = इच्छा पूरी करनेवाली दिव्य गाय, निधी = कभी न समाप्त होने वाला कुबेर का खजाना, चिंतामणी = मांग पूरी करने वाला अद्भुत मणि

रे मन, प्रभु का वर्णन मैं किस प्रकार करूँ ? उसको कल्पतरु कहूँ या फिर उसे कामधेनु कहूँ ? उसे चिंतामणि कहूँ या कुबेर का खजाना कहूँ या फिर सार तत्व कहूँ ? उसे कहूँ तो क्या कहूँ ? वही सब कुछ है ! उस दयाघन प्रभु की कृपा से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं । उससे तुलना में अधिक कल्याणकारी और सामर्थ्यशाली इस संसार में और कोई नहीं है ।

विवेचन :

१, २) ईश्वर सर्वोत्तम है, ईश्वर जैसा ईश्वर ही है, अन्य कोई नहीं है ! उसकी श्रेष्ठता, उसकी योग्यता ठीक तरह से बताना, समझाना आसान काम नहीं है । किन्तु सामान्य मनुष्य अपने जीवन में इच्छाओं की तृप्ति को बहुत ही महत्व देता है । अतः ईश्वर की महानता लोगों को समझाते समय श्रीसमर्थजी को मनोकामना पूर्ण करने वाला कल्पवृक्ष या अगणित द्रव्य देनेवाला कुबेर का खजाना अथवा सब इच्छा पूर्ण करनेवाली कामधेनु की याद आई ।

३) शरीरसुख, ऐश्वर्य, कीर्ति मिलने से मन प्रसन्न होता है ऐसा सामान्य मनुष्य का अनुभव है । श्रीसमर्थजी कहते हैं कि मनुष्य को अगर कल्पवृक्ष, कामधेनु, कुबेर या चिंतामणि मिल जाए तो भी वासना तृप्ति के ये साधन गौण कहलाएंगे क्योंकि इन साधनों से वासनाओं की क्षणिक तृप्ति तो हो सकती है, परंतु वे शांत नहीं होतीं ।

४) मन की प्रसन्नता के लिए इधर उधर भटकने की अपेक्षा ईश्वर-भक्ति करना काफी है ऐसा श्री रामदासस्वामी यहाँ बता रहे हैं । ईश्वर-चिंतन से वासनाएं, इच्छाएं शांत हो जाती हैं और मन को अति संतोष मिलता है । मन अति प्रसन्न हो जाता है । इसके अलावा मनुष्य का मनोबल बहुत ऊँचा उठ जाता है । ऐसी शक्ति, समाधान, धैर्य देनेवाला ईश्वर एकमेवाद्वितीय है, निराला ही है ।

उभा कल्पवृक्षातळी दुख वाहे ।
तया अंतरी सर्वदा तेचि आहे ।
जनी सज्जनीं वाद हा वाढवावा ।
पुढे मागुता शोक जीवीं धरावा ॥६१॥

वाद = शास्त्रार्थ

समझ लो, कोई मनुष्य कल्पवृक्ष की छाँव में खड़ा है । वहाँ उसके मन में दुख का विचार आया, दुख का संकल्प उठा तो उसे जीवन में दुख ही भोगना पड़ेगा । उसी प्रकार कोई व्यक्ति संत के पास जाए और वहाँ व्यर्थ चर्चा, निरर्थक विवाद करने लगे तो बाद में उसे दुख ही सहना होगा ।

विवेचन :

१) कितना भी धन क्यों न हो मनुष्य को कभी पूरा नहीं पड़ता ! हमें अगर सौ मिलते हैं तो हम निन्यानबे में काम चलाएं और एक बाँट दें । सब अगर ऐसा करने लगे तो कोई अनाथ नहीं रहेगा । पर सबको अपने सौ कम लगते हैं और हजार की फिराक है तो दुनिया में सब कंगाल बने फिरते हैं ।

२) दुख का ढिंढोरा पीटने से दुख बढ़ता है । मनुष्य स्वयं ही अपने दुख का कारण होता है । जब तक यह विश्वास बना हुआ है कि मुझे दुख है, दुख बढ़ता ही जाता है । जिस दिन निश्चयपूर्वक कह डालो कि मेरा तो भगवान रक्षक है, मुझे दुख हो ही नहीं सकता - उस दिन से दुख जीवन से हमेशा के लिए ओझल हो जाएगा ।

३) वाद विवाद करने से दुख बढ़ता है । सुख और दुख सिर्फ कल्पनाएं हैं । भूखे को खाने में आनन्द तो रोगी को खाना नहीं सुहाता । बच्चा बड़ा होने की राह देखता है तो बूढ़ा सोचता है कि बचपन कितना भला था । जब तक विवाद करने वाले सुलह की न ठान लें, समस्या का निराकरण सम्भव नहीं ।

४) संत कल्पवृक्ष की तरह सारे मनोरथ पूरे करते हैं । जिस उद्देश्य से हम उनके पास जाते हैं उसके अनुसार परिणाम पाते हैं । वस्तुतः हमें संतों के जीवन से ईश्वर का अनुसंधान करने की कला सीखनी चाहिए । उसके बदले हम उनसे व्यर्थ विवाद करके किसी समस्या का हल तो खोज नहीं पाते और जीवन के कष्ट समाप्त न होता पाकर संतों को ही कोसने लगते हैं ।

निजध्यास तो सर्व तूटोनि गोला ।
बळे अंतरी शोक संताप ठेला ।
सुखानंद आनंद भेदे बुडाला ।
मनीं निश्चयो सर्व खेदें उडाला ॥६२॥

संताप = दुःख, निजध्यास = आत्मस्वरूप का चिंतन

विवादों और मतभेदों के घेरे में आकर मनुष्य को एकाग्रता से चिंतन करने में बाधा आती है। आत्मस्वरूप का अनुसंधान छूट जाने पर मन अशांत हो जाता है। “सुख क्या है ? अनंत सुख क्या है ?” इन पर व्यर्थ मतभेद होते हैं और मन का समाधान लुप्त होता चला जाता है। इससे प्रभु के अस्तित्व की श्रद्धा पूर्णतया नष्ट हो जाती है।

विवेचन :

१) अच्छे विचारों पर मनन कर के प्रेरणा लेकर सदाचार अपनाने का मनुष्य निश्चय करता है। परंतु मतभेदों के घेरे में आकर मनुष्य की साधना भंग हो जाती है। आत्मानुसंधान भुलाकर व्यर्थ के विचारों में मन उलझा रहता है।

२) मतभेद होने से मन अशांत हो जाता है। विवादों के हठात आवेग से मनःशांति क्रोध के तूफान की बलि चढ़ जाती है। साधना छूटने का भी शोक मन में रह जाता है।

३) श्रीसमर्थजी वाद और चर्चा का अन्तर बताते हैं। संवाद करने वाली बुद्धि शुद्ध जिज्ञासु होती है। परंतु विवाद छेड़ने वाली बुद्धि खेदकारी होती है। सुख और दुःख को लेकर व्यर्थ मतभेद होते हैं और नित्य मन में बसने वाला आनन्द लुप्त होता चला जाता है।

४) कोई भी कला सीखते समय छोटी सी आवाज भी एकाग्रता भंग कर सकती है परंतु कला अवगत होने पर उसे करते समय मनुष्य को अधिक ध्यान नहीं देना पड़ता साथ ही अन्य विचार या काम भी आराम से कर सकता है। मनुष्य जानता है कि सांसारिक दुखों के आघातों का सामना करने के लिए ईश्वर की साधना बल दे सकती है। पर मन का निश्चय डांवाडोल हो जाता है। मन में उठने वाला छोटा सा प्रश्न, संशय के पहाड़ खड़े कर देता है और मनुष्य की साधना निष्प्रभ हो जाती है।

घरी कामधेनु पुढे ताक मागे ।
हरीबोध सांडूनि वेवाद लागे ।
करिं सार चिंतामणी काचखंडें ।
तया मागतां देत आहे उदंडें ॥६३॥

हरिबोध = ब्रह्मज्ञान, विवाद = व्यर्थ शास्त्रार्थ

जिसके पास कामधेनु है, अगर वह दूसरे के पास छाछ माँगने जाए तो कितनी हास्यास्पद बात होगी ! उसी प्रकार आत्मज्ञान को छोड़ कर जो शुष्क नीरस शास्त्रार्थ के पीछे लगता है उसका जीवन व्यर्थ है। जिसके पास चिंतामणि है उसके हाथ में सब कुछ है। परंतु वह अगर चिंतामणि से केवल कांच के टुकड़े माँगे तो उसे वे सैकड़ों की तादात् में मिल जाएंगे पर उन से जीवन का दुख कम न होगा।

विवेचन :

१) ‘बुद्धि’ नामक बहुत बड़ी शक्ति मनुष्य को प्राप्त हुई है। वह अच्छे बुरे दोनों फल दे सकती है। अगर शाश्वत की ओर मुड़ी तो वह प्रभु का ज्ञान कराती है। और अगर वह अनित्य की, नश्वर की ओर मुड़ी तो वह दृश्य संसार का ज्ञान कराती है। वह तो कामधेनु है, अर्थात् ज्ञान का दूध देनेवाली दिव्य देवी है। उससे आत्मज्ञान मांग कर परमानंद का उपभोग करने के बदले, अज्ञानी मनुष्य दूसरों की बुद्धि उधार ले व्यर्थ विवाद के छाछ के लिए इधर उधर भटकता फिरता है।

२) बुद्धि का उपयोग अगर सिर्फ प्रश्न उठाने के लिए किया जाय न कि समाधान ढूँढने के लिए तो विवाद होना निश्चित है। विवाद अहंकार का फल है जो बाद में अपमान और बदले की भावना को जन्म देता है। ईश्वर का ज्ञान तो दूर, जनम भर का झगड़ा आदमी मोल ले बैठता है।

३, ४) मनुष्य को बुद्धि का वरदान मिला है। बुद्धि सर्व इच्छा पूर्ण करने वाले सर्वोत्तम रत्न चिंतामणि की भांति है। हाथ में चिंतामणि लेकर प्रभु का दिव्य ज्ञान मांगने की बजाय अभाग्य मनुष्य अगर सिर्फ कांच के टुकड़े मांगने लगे तो वे उसे निश्चित ही बहुत सारे मिल जाएंगे पर उनसे दुख लेष मात्र भी कम न हो सकेगा। अपनी बुद्धि का उपयोग स्वार्थ के लिए किया जाय तो क्षणिक आनंद शायद मिल भी जाए पर इससे मनुष्य के अन्तिम क्षणों में दुख ही बढ़ा मिलेगा।

अति मूढ त्या दृढ बुद्धि असेना ।
 अति काम त्या राम चितीं वसेना ।
 अति लोभ त्या क्षोभ होईल जाणा ।
 अति विषयीं सर्वदा दैन्यवाणा ॥६४॥

क्षोभ = खेद, नेम = नियम, विषयीं = कामी = भोगी, दैन्यवाणा = लाचार

जो महामूर्ख है, मतिमंद है, उसकी बुद्धि अस्थिर, चंचल होती है । जो कामी, लंपट, व्याभिचारी होता है उसका मन सदैव अशांत रहता है । इसका तात्पर्य है कि जो भोगी होता है वह सदा लाचार एवं पराधीन होता है ।

विवेचन :

१) सामान्य मनुष्य की बुद्धि में थोड़ी सी अस्थिरता रहना स्वाभाविक है । परंतु जो बुद्धि कहीं भी स्थिर नहीं रहती वह विकृत बुद्धि होती है । मनुष्य की विषयाधीनता से ही इन दोषों का प्रारम्भ होता है ।

२) मानव को जीवन में व्यक्तिगत और सामाजिक इन दो अंगों को समान जोखना चाहिए । समाज में अपना कर्तव्य निभाते हुए व्यक्तिगत इच्छा पूरी करना, मर्यादा में सुख का उपभोग करना गलत नहीं है । परंतु उसकी अमर्यादित लालसा रखना पाप है । पापी प्रभु-भक्ति से वंचित रहता है ।

३) गृहस्थी को चलाने के लिए अल्प मात्रा में, थोड़ा बहुत लोभ करना गलत नहीं परंतु अति लोभी, लालची बनना पाप है । मनुष्य की वासनाएं ही उसके दुष्ट विचारों की जननी होती हैं । उनकी छाया में मनुष्य गलत काम करने को आसानी से तैयार हो जाता है । वह भूल जाता है कि समाज की ओर भी उसका कुछ कर्तव्य बनता है । और जब समाज की ओर से वह तिरस्कृत होता है तो उसके हृदय में क्षोभ उत्पन्न होता है ।

४) जिसकी बुद्धि ईश्वर को छोड़ अन्य अनेक संदर्भों को लिए फिरती है और जिसका सुख दृश्य वस्तुओं में पूरी तरह से उलझा रहता है उसे अपने सुख के लिए पूर्णतया दूसरे लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है । अतः संसार में वह लाचारी से, हीन भाव से व्यवहार करता है । प्रभु का भक्त गरीब हो सकता है, परंतु वह कभी लाचार, हीन नहीं होता । भक्त की इन्द्रियां उसके वश में होती हैं । भक्त भूख-प्यास सह के भी प्रसन्नता से अपने कर्तव्यों को निभा सकता है ।

नको दैन्यवाणे जिणें भक्ति ऊणें ।
 अति मूर्ख त्या सर्वदा दुःख दूणे ।
 धरी रे मना आदरें प्रीति रामीं ।
 नको वासना हेमधामी विरामीं ॥६५॥

ऊणे = न्यूनता, हेमधाम = सोने का महल, विरामीं = राम त्याग कर

भक्ति के बिना जीवन तुच्छ और हीन होता है । अज्ञानी, मूर्ख मनुष्य जो भक्ति की महिमा नहीं जानता उसको बहुत दुख भोगना पड़ता है । रे मन, बड़ी श्रद्धा से अपना हृदय राममय कर ले । प्रभु-प्रेम के बिना मिलने वाले ऐश्वर्य की कामना मत कर !

विवेचन :

१) श्रद्धा और भक्ति जीवन के आधार स्तम्भ हैं । उनपर खड़ा प्रभुसान्निध्य का महल ही सच्चा ऐश्वर्य है । संसार में आज तक जितने भी संत, महात्मा हुए हैं, किसी की थैली सोने-चांदी के सिक्कों से नहीं भरी थी । पर वे सदैव प्रसन्नचित्त दिखाई पड़ते थे । उनकी असली पूंजी ईश्वर प्रेम के रूप में हमेशा उनके पास रहती थी । उन्होंने कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया ।

२) जीवन में ईश्वर को सर्वोत्तम मानना ही उत्तम जीवन है । अन्य शब्दों में कहा जाए तो यह सर्वश्रेष्ठ मूल्य जिस मानवीय जीवन में पिरोया नहीं गया ऐसे भगवत्विहीन, श्रद्धाविहीन का जीवन दुखों का समुंदर बन गया ! ऐसे मनुष्य के पास कितना ही धन-धान्य क्यों न हो उसे सदा न्यूनता सताती रहती है । उसके हाथ हमेशा धन बंटोरने में व्यस्त रहते हैं और वह सदा चिंताओं से घिरा रहता है ।

३) अतः समझदार ज्ञानी विवेकी मनुष्य वही है जो प्रभु के प्रति श्रद्धा, प्रेम और आदर की भावना रख कर वासना रहित जीवनयापन का अभ्यास करता है । ईश्वर के प्रति श्रद्धा हमें सदबुद्धि, शक्ति और मनोधैर्य दिलाते हैं जिससे हम किसी भी आपत्ति का सामना सहज रूप से कर सकते हैं ।

४) प्रभु प्रेम है तो ऐश्वर्य का सदुपयोग है अन्यथा धन के दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं । सुखलोलुपता मनुष्य के मन को दुर्बल और देह को रोगी बना देती है । न तो उसकी कामना समाप्त होती है और न ही वह सुखोपभोग करने के काबिल रहता है । उसकी अवस्था बहुत ही असहाय, दयनीय, शोचनीय और निंदनीय बन जाती है ।

नव्हे सार संसार हा घोर आहे ।
मना सज्जना सत्य शोधूनि पाहे ।
जनीं विष खातां पुढे सुख कैचें ।
करी रे मना ध्यान या राघवाचें ॥६६॥

घोर = भयानक

रे मन, यह संसार अनित्य है, क्षणभंगुर है और बड़ा ही भयानक है । तुम स्वयं यथार्थ का, वास्तविकता का पता लगा लो । किसी ने अगर विष पिया हो तो क्या उसे सुख मिल सकता है । अतः रे मन, तुम प्रभु का ध्यान करो ।

विवेचन :

१) शरीर पोषण के लिए जिस तरह अन्न रस आवश्यक है चाहे वह स्वादिष्ट हो या ना हो, उसी तरह सफल जीवन के लिए ईश्वर के प्रति श्रद्धा आवश्यक है, सांसारिक सुख हों या न हों । सामान्य व्यक्ति के लिए यह संसार अत्यधिक क्लेशदायी है । प्रत्येक सुख मानो मृग मरीचिका है । मनुष्य कितना भी दौड़े स्थायी सुख हाथ नहीं आता ।

२) हम ठीक से विचार किए बिना जीवन व्यतीत करते हैं । अतः दुखद होते हुए भी हम संसार को सुखद समझते हैं । नीरस होते हुए भी सरस मानते हैं । झूठा सत्य इतना लुभावना होता है कि हमारा मन उसे सच मानने को विवश हो जाता है । परंतु स्थिर बुद्धि से सोचने पर सत्य असत्य का फरक समझ में आता है । हे सज्जन मन, क्यों न तुम सत्य की खोज करो !

३) किसी ने अगर अनजाने में विष पी लिया तो भी विष का असर तो हो के रहेगा ! वैसे ही संसार को सुखदायक मान भी लिया तो भी अन्त में वह अपना भयप्रद रूप दिखा ही देगा । अतएव हमें पहले ही विचार कर लेना चाहिए तथा संसार का, गृहस्थी का भयावह स्वरूप समझ लेना चाहिए ।

४) जीवन में प्रभु चिंतन का अभ्यास करते रहना चाहिए । निरंतर प्रभु चिंतन से संसार का भय बाधक, दुखदायी नहीं रहता । प्रभु श्रीराम के अनुयायी को अपना कर्तव्य जानने या करने में बाधा नहीं आ सकती । भक्त के सांसारिक मोहपाश प्रभु के सान्निध्य में सहजता से कट जाते हैं । फिर सुख दुख का बोझ नहीं रहता ।

घनश्याम हा राम लावण्य रूपी ।
महाधीर गंभीर पूर्ण प्रतापी ।
करी संकटी सेवकाचा कुडावा ।
प्रभाते मनी राम चिंतीत जावा ॥६७॥

लावण्यरूपी = मूर्तिमान सौन्दर्य, प्रतापी = पराक्रमी, कुडावा = रक्षा

साँवले रंग के श्रीराम तो मूर्तिमान सौन्दर्य हैं । वे धैर्यशाली, पराक्रमी तथा अति शांत स्वभाव के हैं । वे भक्तों के संकट हर कर उनकी रक्षा करते हैं । अतः नित्य प्रातः हमें प्रभु राम का स्मरण और चिंतन करना चाहिए ।

विवेचन :

१) अपना मन प्रभु से जोड़ने के लिए उनका निरंतर चिंतन करना ही प्रमुख उपाय है । आज हमें दृश्य वस्तुओं का चिंतन करने की आदत है । उसकी दिशा बदलकर, उसे प्रभु की ओर मोड़ने की आवश्यकता है । इसीलिए रघुवर के सगुण रूप का चिंतन करने की श्रीसमर्थजी सलाह देते हैं ।

२) प्रभु चिंतन का अभ्यास करते समय अपने सामने प्रभु की सुंदर, सजीव मूर्ति हो तो मन आप ही आकर्षित होता है । और फिर प्रभु की लगन लगने में अधिक श्रम की आवश्यकता नहीं होती । पहले ही प्रयास में मन के सामने सम्पूर्ण मूर्ति स्थिर नहीं होती । ऐसे में प्रभु के गुणों का चिंतन एवं गुणगान करना चाहिए ।

३) गुणों का चिंतन करते समय प्रभु की लीलाएं याद आती हैं । प्रभु चरित्र की विविध घटनाएं मनःचक्षु के सामने उभरती हैं और फिर उनमें विचरण करने वाली प्रभु की सजीव प्रतिमा अपने आप मन में स्थिर होने लगती है । इस स्थिरता में ही चिंतन की नींव पड़ जाती है और संकट समय प्रभु का सान्निध्य प्राप्त होकर मार्ग दिखाई देता है । प्रतीत होता है मानो प्रभु ही हाथ पकड़ कर ले चल रहे हों ।

४) रात की गहरी नींद के बाद सुबह तड़के जब जागते हैं तब स्वस्थ-चित्त रहते हैं । उस समय अगर कोई व्यक्ति चिंतन मनन करता है तो प्रभु का रूप सहजता से अंतःकरण में दृढ़ हो जाता है ।

बले आगळा राम कोदंडधारी ।
महांकाळ विक्राळ तो ही थरारी ।
पुढें मानवा किंकरा कोण केवा ।
प्रभाते मनीं राम चिन्तीत जावा ॥६८॥

कोदण्डधारी = धनुर्धारी, महाकाल = प्रलय काल, केवा = महत्व

श्रीसमर्थजी के स्वामी धनुर्धारी राम सबसे अधिक श्रेष्ठ तथा बलवान् हैं । उनके सामने महाकाल भी थरथर काँपता है । मनुष्य तो एक अति क्षुद्र प्राणी है ! अतः यही उचित है कि हम परम् प्रतापी, शक्तिशाली प्रभु राम का चिंतन नित्य प्रातः करें और अपना मनोबल बढ़ाएं ।

विवेचन :

१) सच्चिदानंद स्वरूप ईश्वर ही श्रीसमर्थजी के धनुर्धारी राम हैं । प्रभु के अपार तथा असीम सामर्थ्य की कल्पना भी सामान्य मनुष्य नहीं कर सकता । श्रीसमर्थजी यहाँ बताना चाहते हैं कि भक्त निडर होकर अपना कर्तव्य निभा सकता है, उसे किसी से डरने की आवश्यकता नहीं है क्यों कि भक्त के स्वामी प्रभु श्रीराम अतुलनीय सामर्थ्य रखते हैं और वही उसकी रक्षा करेंगे ।

२) यह सृष्टि प्रभु की बनाई हुई है । उसकी रक्षा और संहार दोनों का भार प्रभु पर ही है । प्रभु की इच्छा के आगे महाकाल भी विवश हो जाता है । प्रभु की आज्ञा के बिना काल भक्त को छू भी नहीं सकता ।

३) भक्त को अपने प्रभु पर पूरा विश्वास होना चाहिए । भक्त को कार्य संपादन के लिए किसी के आगे झुकना, हाथ फैलाना शोभा नहीं देता । कोई मनुष्य कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो प्रभु के आगे उसकी क्या गिनती ? वह तो नगण्य हुआ । भक्त को प्रभु के असीम सामर्थ्य की याद दिलाते हुए श्रीसमर्थजी कहते हैं कि उसे सिर्फ प्रभु का चिंतन मनन करना चाहिए । प्रभु ही मनुष्य को सही मार्ग दिखला सकते हैं ।

४) अतः प्रभु चरण में लीन होना ही मनुष्य के लिए उत्तम मार्ग है । और यह तन्मयता प्रातःकाल के प्रभु-चिंतन से सरलता से प्राप्त होती है । नित्य प्रातः प्रभु का गुणगान करने से मन में जोश और उत्साह दिन भर बना रहता है । उनकी लीलाओं से सबक सीख कर मनुष्य अपना जीवन सफल बना सकता है ।

सुखानंदकारी निवारी भयातें ।
जगी भक्तिभावे भजावें तयातें ।
विवेके तजावा अनाचार हेवा ।
प्रभाते मनीं राम चिन्तीत जावा ॥६९॥

अनाचार = अधर्म = दुराचार

प्रभु राम मनुष्य का भय दूर करते हैं, उसका संकट निवारण करके उसे सुख देते हैं । जीवन में अत्यंत प्रेम तथा श्रद्धा से प्रभु की शरण में जाना चाहिए । विवेक विचार धारण कर के मनुष्य को दुराचार, अनीति का आचरण छोड़ना चाहिए । और नित्य प्रातःकाल प्रभु राम का चिंतन अवश्य करना चाहिए ।

विवेचन :

१) मृत्यु, रोग, दरिद्रता, अपयश इत्यादि अनेक सांसारिक भयताप से मनुष्य मुक्ति चाहता है । प्रभु का सहारा लेना उसपर भरोसा करने का अर्थ ही “मैं उसका हूँ” यह ज्ञान होना, यह विश्वास होना है । प्रभु-प्रेम से उत्पन्न हुआ यह विश्वास सचमुच सुखदायक होता है, आश्वासक होता है । फिर मन में कोई संशय, कोई डर शेष नहीं रहता ।

२) पवित्र अंतःकरण में ही प्रभु अस्तित्व की भावना का निर्माण होता है तथा मन स्थिर होता है । मनुष्य को चाहिए कि वह लोगों के बीच आदर पूर्वक प्रभु का नित्य भजन पूजन करे । इसी से प्रभु सान्निध्य स्थापित होगा ।

३) द्वेष अथवा ईर्ष्या आनंद का सर्वनाश करते हैं । प्रभु के प्रति भक्तिभाव हमें विवेक धारण करना सिखाता है जिससे दुष्ट विचारों का उन्मूलन हो सकता है । शान्त अंतःकरण में ही प्रभु के अस्तित्व की निष्ठा सर्वोच्च बिन्दु तक पहुँच सकती है । मनुष्य को चाहिए कि वह शुद्ध आचरण अपनाए । सोच समझकर प्रयत्नपूर्वक बुरी भावनाओं को मन से हटाए और भक्ति का दीपक जलाए ।

४) श्रीसमर्थजी कहते हैं कि नित्य भजन पूजन से मनुष्य ईश्वर के करीब आता जाता है । नित्य स्मरण उसे अनेक दुष्ट कर्मों से परावृत्त करने में सहायक बन सकता है । नित्य स्मरण ही आचरण की पवित्रता बनाए रख सकता है । अतः नित्य प्रातः हमें ईश्वर का चिंतन अवश्य करना चाहिए ।

सदा रामनामें वदा पूर्ण कामें ।
कदा बाधिजेना पदा नित्यनेमें ।
मदालस्य हा सर्व सोडोनि द्यावा ।
प्रभाते मनीं राम चिन्तीत जावा ॥७०॥

मद = अहंकार, पूर्णकामें = मनःपूर्वक, नित्यनेमें = नियमवत्

दिन रात मन से प्रभु का नाम जपना चाहिए । रामनाम से दुःख, क्लेश सब दूर हो जाते हैं । अखण्ड नियमपूर्वक नाम लेने से आपदाएं परेशान नहीं करतीं । मनुष्य को अहंकार और आलस दोनों का संपूर्ण त्याग करना चाहिए और नित्य प्रातः प्रेम से प्रभु राम का चिंतन करना चाहिए ।

विवेचन :

१) सदैव मनःपूर्वक ईश्वर-चिंतन करना चाहिए । उस चिंतन में एकाग्र, अनन्यचित्त होने का अभ्यास करना चाहिए । संसार में हम वांछित फल प्राप्ति के लिए ही सभी कार्य करते हैं । ईश्वर का नाम जपते समय यही आदत बाधा उत्पन्न करती है । नाम लेने की इच्छा छोड़ के और सभी वासनाएं छटना इसीका मतलब है - पूर्णकाम होना, निष्काम होना ।

२) इस प्रकार जो निष्काम होकर नित्य नियम से नाम जप करता है, उस पर चाहे जितने संकट आ जाएं, उसका नामजप खंडित नहीं होता । संकटों की पहुँच देह तक ही सीमित होती है । नियमपूर्वक नाम लेने वाले की देह क्लेश सहती है परंतु उन क्लेशों का, उन बाधाओं का अंतःकरण में प्रवेश नहीं हो पाता । यही प्रभु नाम का अद्भुत तथा सत्य अनुभव है ।

३) मनःपूर्वक नाम जप करने में दो अवगुण बाधक होते हैं । पहला अवगुण है - आलस्य या टालमटोल करना । मनुष्य पारायण करता है, पूजा-अर्चना करता है, तीर्थयात्रा करता है । परंतु बैठे बैठे एकचित्त होकर नाम जपने में आलस करता है । गृहस्थी का काम निपटाने के पश्चात वह नाम जपने बैठता है और फिर आज का नाम कल जप लेंगे ऐसा सोचकर टाल देता है । दूसरा अवगुण है- 'मद' या अपने किए का घमण्ड ! घमण्डी कभी विनयशील सेवाव्रती नहीं बन सकता । मान सम्मान पाने की इच्छा उससे छूटती नहीं ।

४) श्रीसमर्थजी कहते हैं कि भक्त को अहंकार और आलस्य का त्याग कर विनम्र बुद्धि से नियमपूर्वक नित्य प्रातः ईश्वर का चिंतन करना चाहिए ।

जयाचेनि नामें महादोष जाती ।
जयाचेनि नामें गति पाविजेतीं ।
जयाचेनि नामें घडे पुण्य ठेवा ।
प्रभाते मनीं राम चिन्तीत जावा ॥७१॥

महादोष = बड़े अवगुण, गति = सद्गति = मुक्ति

ईश्वर के नामस्मरण से, नाम जपने से मनुष्य के बड़े बड़े अवगुण नष्ट हो जाते हैं । उसे उत्तम अवस्था प्राप्त होती है । और उसके पुण्य का संचय बढ़ता है । अतः प्रभु राम का नित्य प्रातःकाल चिंतन करना चाहिए ।

विवेचन :

१) झूठ बोलना, चोरी करना, मद्यपान करना, हिंसा करना और व्याभिचार करना इन दोषों से अंतःकरण अत्यधिक अपवित्र होता है । अतः इन दोषों को महादोष मानते हैं । इन दोषों का आचरण करने से मनुष्य स्वयं तो भ्रष्ट होता ही है, साथ ही समाज को भी भ्रष्ट करता है । मनुष्य का अंतःकरण पूर्णरूप से सुधारने का सामर्थ्य केवल प्रभु सान्निध्य में ही है । नित्य नामस्मरण से यह सान्निध्य पाकर मनुष्य पाप मुक्त हो सकता है ।

२) मनुष्य के मन का मैल दूर करना यह हरिनाम का तत्काल परिणाम है । तत्पश्चात प्रभु नाम स्मरण से मनुष्य का पुण्य संचय बढ़ता रहता है । जिससे उसे उत्तमावस्था अर्थात् सद्गति प्राप्त होती है । भक्त की अवस्था ही उत्तम अवस्था है ।

३) हर एक भक्त के जीवन में असामान्य पुण्य संचय की पार्श्वभूमि होती है । अनेक जन्मों से पुण्य का संचय करते करते जीव की वासनाएं अति पवित्र बनती हैं । समस्त बुरी वासनाएं तो पूरी तरह से नष्ट हो जाती हैं । केवल प्रभु की वासना, प्रभु की चाहत बनी रहती है । इस जन्म में केवल वही अभिलाषा प्रभु पूरी करते हैं ।

४) श्रीसमर्थजी कहते हैं कि सभी को नित्य प्रातः प्रभु का ध्यान करना चाहिए । अपनी दिनचर्या शुरू करने से पहले प्रभु के चिंतन में कुछ समय अवश्य व्यतीत करना चाहिए । ऐसा करने से आप ही अवगुण कम होते जाएंगे । स्वार्थी मन सरलता से समाजोपयोगी कार्यों में रमने लगेगा ।

न वेंचे कदा ग्रंथिचे अर्थ काहीं ।
 मुखें नाम उच्चारितां कष्ट नाही ।
 महाघोर संसार शत्रु जिणावा ।
 प्रभाते मनीं राम चिन्तीत जावा ॥७२॥

वेचणे = खर्च करना, ग्रंथि = संग्रह, अर्थ = धन, जिणावा = जीतना

मुख से हरिनाम जपने के लिए पैसा नहीं चुकाना पड़ता ना ही शरीर को कोई कष्ट सहना पड़ता है । नित्य जाप से घोर सांसारिक यातनाओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है । अतः रे मन, नित्य प्रातः ईश्वर का स्मरण कर ।

विवेचन :

१, २) सामान्य मनुष्य स्वार्थी होता है । “मैं देह ही हूँ” ऐसी उसकी दृढ़ भावना रहती है । इस कारण वह अपनी देह को बहुत संभालता है । और देह को सुख में रखने के लिए आवश्यक वस्तुएं पैसों से प्राप्त होती हैं । अतः वह देह के साथ साथ पैसों का भी खयाल रखता है ! प्रपंच में आसक्त हुए मनुष्य के ये दो मर्मस्थान ध्यान में रखते हुए श्रीसमर्थजी कहते हैं कि प्रभु के नामस्मरण के लिए ना तो कोई मूल्य चुकाना पड़ता है और ना ही देह को कोई कष्ट होता है । सामान्य मनुष्य के लिए नामस्मरण सच्चिदानंद प्रभु को प्राप्त करने का सबसे सरल साधन है ।

३) परंतु इसके साथ ही उन्होंने सावधानी का एक इशारा भी दिया है । वे कहते हैं कि जिस देह के भरोसे मनुष्य संसार में रमता है, गृहस्थी में आसक्त होता है, वह देह और वह संसार दोनों कब धोखा दे दें इसका भरोसा नहीं ! जीव को प्रभु की विस्मृति कराने वाला यह संसार, मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है । मनुष्य को सांसारिक मोहपाशों से सावधान रहना चाहिए । अखण्ड प्रभु-चिंतन से इन्द्रियों को जीतकर उन्हें अपने अधीन करने वाला मनुष्य संसार में कहीं भी रहे, उसे किस बात का डर ?

४) प्रभु-चिंतन से ईश्वर का निरंतर स्मरण रहता है । प्रभु-चिंतन से ही संसार की नश्वरता का, मृत्यु का अनुभव होता है । प्रभु-चिंतन से हम अपने कर्तव्यों के प्रति जागृत रहते हैं । प्रभु-चिंतन से ही इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है । अतः नित्य प्रातः ईशानमन अवश्य करना चाहिए ।

देहे दंडणेचें महादुःख आहे ।
 महां दुःख तें नाम घेतां न राहे ।
 सदाशिव चिंतीतसे देवदेवा ।
 प्रभाते मनीं राम चिन्तीत जावा ॥७३॥

दंडन = कष्ट, देवदेवा = देवताओं का देव = परमेश्वर

देह को क्लेश कष्ट देने से असह्य दुख सहने पड़ते हैं । परंतु जो प्रभु का नाम लेता है, उसके समस्त दुख दर्द समाप्त हो जाते हैं ! उसे दुख सहन नहीं करना पड़ता । भगवान शिव भी रामनाम का जप करते हैं, प्रभु का चिंतन करते हैं । अतः नित्य प्रातः प्रभु राम का चिंतन अवश्य करना चाहिए ।

विवेचन :

१) प्रभु-दर्शन होने के लिए देह का ममत्व छोड़ना पड़ता है । देह की आसक्ति, देह का ममत्व छोड़ने के लिए देह को क्लेश देने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है । प्रभु-प्राप्ति के लिए देह को विविध प्रकार के क्लेश देनेवाले लोग भारत में सर्वत्र दिखाई देंगे । उपवास, व्रत, अनुष्ठान, जप, तप आदि करते समय देह को बहुत दुख भोगना पड़ता है । परंतु नित्य प्रभु का चिंतन नामस्मरण करनेवाले साधक को ऐसा देह कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं रहती ।

२) जो प्रभु का नाम लेता है, वह संसार के मोहजाल में नहीं फँसता । यही कारण है कि उसके समस्त दुख दर्द समाप्त हो जाते हैं ! देह-भ्रम मिटाने के लिए उसे विशेष कष्ट उठाने नहीं पड़ते । अपने सभी व्यवहार करते समय भक्त मन ही मन प्रभु नामस्मरण अखण्ड रूप से करता रहता है ।

३) भारतीय संस्कृति में श्री शिवजी को तपोमूर्ति, तपस्वी समझते हैं । तप और योग-समाधि इन दोनों के सर्वोत्तम आदर्श के रूप में भगवान शिव सभी साधकों को प्रिय हैं । समुद्र मन्थन से निकले विष को पीने के बाद कंठ दाह को शांत करने के लिए उन्होंने रामनाम का जप किया था । श्रीसमर्थजी कहते हैं कि प्रभु नाम का इतना महत्व है कि सक्षात् योगेश्वर शिव भी नित्य प्रभु-चिंतन करते हैं ।

४) श्रीसमर्थजी यहाँ आग्रहपूर्वक कहते हैं कि नित्य प्रातः प्रभु राम का स्मरण अवश्य करना चाहिए । रामनाम के प्रभाव से सारे दुखों की पीड़ा शांत हो जाती है ।

बहुतांपरी संकटे साधनाची ।
व्रतें दान उद्यापनें ते धनाची ।
दिनाचा दयाळू मनीं आठवावा ।
प्रभाते मनीं राम चिन्तीत जावा ॥७४॥

संकट = अड़चन, दीनदयाल = दीन वत्सल प्रभु

प्रभु प्राप्ति के लिए साधना करते समय अनेक प्रकार की अड़चनें आती हैं । व्रत, दान-दक्षिणा एवं उद्यापन में बहुत धन की आवश्यकता होती है । परंतु दीन वत्सल प्रभु का मनःपूर्वक चिंतन करने के लिए इनमें से किसी की भी आवश्यकता नहीं होती । अतः ऐसे दीनदयालु प्रभु राम का चिंतन नित्य प्रातः करना चाहिए ।

विवेचन :

१, २) छांदोग्य उपनिषद् में यज्ञ, दान और तप को 'त्रिस्कंध धर्म' नाम से संबोधित किया गया है । वैदिक संस्कृति की जीवन पद्धति यज्ञ, दान तथा तप इन तीनों पर आधारित बनाई गयी थी । कालान्तर से वैदिक संस्कृति क्षीण हो गयी जिससे भारतीय जीवन प्रणाली का बाह्य रूप भी बदल गया । कुछ समय पश्चात् कालातीत हुई यज्ञसंस्था से अनेक प्रकार के व्रत अस्तित्व में आ गए । वैदिक जीवन प्रणाली में तप तो निजी साधना का अंग था । तप की कल्पना से ही आगे चलकर ईश्वर प्राप्ति के अनेक साधन उपलब्ध हो गए । दान का यज्ञ - संस्था में बहुत महत्व था । यज्ञ समाप्त हो गए फिर भी नए काल के अनुरूप दान के विविध प्रकार प्रचलन में आ गए । श्रीसमर्थजी के समय में व्रत, उद्यापन तथा दान आदि का विशेष प्राधान्य था, आडम्बर भी था । इन्हीं आडंबरों के इर्दगिर्द ही धर्म केंद्रित था । इन्हीं विधी विधानों के लिए बहुत सा धन खर्च किया जाता था ।

३) प्रभु दीन वत्सल है । जो नम्र, विनीत होकर उसका स्मरण करता है उसपर प्रभु की अपार कृपा होती है । अतः श्रीसमर्थजी कहते हैं कि व्रत-उद्यापनों पर अधिक खर्च किए बगैर भी शरणागत वृत्ति से निरंतर प्रभु-चिंतन करने से ईश्वर प्राप्ति सहज सम्भव है ।

४) अन्ततः प्रभु-दर्शन हमारे अंतरंग में ही होता है । अगर शुद्ध मन से प्रभु दर्शन करना है तो अंतःकरण प्रभुमय करना पड़ता है । मन को प्रभुमय बनाने के लिए प्रभु का निरंतर चिंतन करने के समान अन्य सरल मार्ग नहीं है ।

समस्तामध्ये सार साचार आहे ।
कळेना तरी सर्व शोधून पाहें ।
जिवा संशयो वाउगा तो तजावा ।
प्रभाते मनीं राम चिन्तीत जावा ॥७५॥

वाउगा = व्यर्थ, साचार = सत्य

सचमुच सभी साधनाओं में नामस्मरण एक अत्युत्तम साधन है । अगर यह समझ में न आता हो तो श्रुति, स्मृति, पुराणों और संतों के ग्रन्थों का ठीक से परिचिंतन करना चाहिए, अभ्यास करना चाहिए । नाम के विषय में आने वाले निरर्थक विकल्प स्वयं ही त्यागने चाहिए । और नित्य प्रातः प्रभु राम का चिंतन अवश्य करना चाहिए ।

विवेचन :

१) प्रभु के नामस्मरण में निम्न तीन उत्तम लक्षण दिखाई पड़ते हैं । प्रथम- यह उपाधि रहित है । द्वितीय - इसमें प्रारंभ से ही ईश्वर का अस्तित्व होता है । तृतीय - इसके अभ्यास से अन्य साधनाओं से मिलने वाला फल अपने आप प्राप्त होता है ।

२) नाम का अर्थ है "मैं" नहीं, सिर्फ ईश्वर है । वेदों, शास्त्रों, पुराणों और सन्तों के ग्रंथों में ऊपर निर्दिष्ट अर्थ ही विविध प्रकार से समझाया है । अतः आध्यात्मिक वाङ्मय के दीर्घ परिचिंतन का सारांश अन्त में 'नाम' शेष रहता है, 'नाम' ही प्राप्त होता है ।

३) संदेह करना यह जीव का स्वभाव है । परंतु वह नादानी से जन्मा हुआ ना हो ऐसा श्रीसमर्थजी का कहना है । स्वार्थ, अहंकार, ईर्ष्या में लिपटा हुआ संदेह मिटाए नहीं मिटता । जब तक जीव स्वयं ही विवेक से व्यर्थ के संदेहों को दूर नहीं हटाता तब तक वह नामस्मरण के आनंद का उपभोग नहीं ले सकता । नामरूप में अगाध परब्रह्म सहजता से हर पल मनुष्य की संवेदना में स्थिर हो सकता है ।

४) अतः श्रीसमर्थजी कहते हैं कि सारी अनिश्चितताओं को, विवशताओं को स्वयं विवेक से परखकर, सन्देहों से परे हट कर नित्य प्रातः प्रभु-चिंतन करने से ईश्वर के अस्तित्व का ध्यान प्रति क्षण बना रहता है और यही प्रभु-स्मरण मनुष्य को उज्वल सत्य के पथ पर आगे बढ़ा सकता है ।

नव्हे कर्म ना धर्म ना योग कांहीं ।
 नव्हे भोग ना त्याग ना सांग पाहीं ।
 म्हणे दास विश्वास नामीं धरावा ।
 प्रभाते मनीं राम चिन्तीत जावा ॥७६॥

त्याग = वैराग्य वृत्ति, भोग = देह सुख

मनुष्य ना ढंग से कर्म मार्ग का आचरण करता है, ना ढंग से धार्मिक वृत्ति से जीवनयापन करता है । वह ना तो ठीक प्रकार से योगाभ्यास करता है, ना ही ढंग से देह सुख का उपभोग कर सकता है और ना ही अनासक्त बैरागी जीवन व्यतीत कर सकता है । श्रीसमर्थजी कहते हैं कि मनुष्य कुछ करे ना करे पर श्रद्धा-पूर्वक नित्य प्रातः प्रभु-स्मरण अवश्य कर सकता है ।

विवेचन :

१, २) यूरोप में सत्रहवीं सदी से ही सामाजिक जीवन में धर्म अस्थिर होने लगा था । परंतु भारत में वैसा नहीं हुआ । श्रीसमर्थजी के समय ऐसा समझा जाता था कि कर्ममार्ग का आचरण करने वाले कर्मयोगी मनुष्य का, अथवा धार्मिक विधी का आचरण करनेवाले धार्मिक मनुष्य का, या योगाभ्यासी अथवा बैरागी जीवन व्यतीत करनेवाले विरक्त मनुष्य का जीवन ही उत्तम होता है । अर्थात् ऐसे लोगों की संख्या भी पहले की अपेक्षा कम होने लगी थी । अतः धीरे धीरे अनुशासित जीवन दुर्लभ होता गया । यह तो सर्वविदित है कि अनुशासन विहीन समाज का जल्दी ही पतन होता है ।

३, ४) अटकलों और तर्कों से परे तेजी से बदलती सामाजिक परिस्थितियों में पूर्व जीवन पद्धति का पुनरूत्थान करना और समाज को अध्यात्मसंपन्न बनाना असम्भव था । अतः मनुष्य के मन में अनुशासन की धारणा सरलता से उत्पन्न करनेवाला प्रभु का नाम सब लोगों को अपना लेना चाहिए ऐसा श्रीसमर्थजी का आग्रह था, अनुरोध था । मनुष्य कर्म, धर्म अथवा योग आलस के कारण भले ना करे परंतु उनके बारे में अधिक संदेह नहीं करता । किंतु नाम के संबंध में उसका मन सदा शंका से भरा रहता है । श्रीसमर्थजी की हमसे इतनी ही बिनती है कि जितनी श्रद्धा हम कर्म, धर्म, योग में रखते हैं उतनी ही श्रद्धा प्रभु नाम में रखें । उतनी नाम-श्रद्धा भी हमारा कल्याण करने के लिये काफी है । अतः प्रत्येक मनुष्य को नित्य प्रातः ईश्वर का नामस्मरण अवश्य करना चाहिए ।

करी काम निःकाम या राघवाचें ।
 करी रूप स्वरूप सर्वा जिवांचें ।
 करी छेद निर्द्वंद्व हे गूण गातां ।
 हरी कीर्तनीं वृत्ति विश्वास होतां ॥७७॥

निःकाम = विरक्त, निर्द्वंद्व = संसार और ईश्वर एक ही है ऐसी भावना

प्रभु की कामना मनुष्य को इच्छा रहित एवं विरक्त बनाती है । भक्त सभी प्राणियों के अंतरंग में प्रभु की ही छवि देखता है । मनुष्य की वृत्ति जब श्रद्धापूर्वक प्रभु गुणगान में तन्मय होने लगती है, तब वह द्वंद रहित अवस्था को प्राप्त हो जाता है ।

विवेचन :

१) इच्छाओं को त्याग कर जीवन बिताना मनुष्य के लिए कठिन है । प्रभु की कामना जगाने से मन प्रभु में अनुरक्त हो सकेगा । ईश्वर स्वयं पूर्णकामी है । अपूर्णकामी ने पूर्णकामी से नाता जोड़ा तो वह आप ही निष्काम बन जाएगा । यही कारण है कि प्रभु का भक्त सरलता से निष्कामी बन जाता है ।

२) ईश्वर का चिंतन करते करते भक्त का मन तथा ईश्वर का चिन्त्य रूप दोनों सूक्ष्म बनने लगते हैं । सूक्ष्म बनने से दोनों व्यापक बन जाते हैं । फिर जो रूप भक्त अपने अंतःकरण में चिंतन के लिए धारण करता है, वह रूप उसे सभी प्राणियों के अंतःकरण में दिखाई देने लगता है । इसी को विश्वरूप कहते हैं । अंत में चराचर में एक ही सत्ता कार्य करती है, ऐसा अनोखा अनुभव आता है ।

३) प्रभु आनंदस्वरूप होने के कारण उसके दर्शन का मार्ग आदि से अंत तक मन को संतोष देने वाला होता है । मनुष्य का मन एक बार प्रभु स्वरूप के बखान में रमने लगा तो फिर उसे सुख-दुःख, मान-अपमान, निंदा-स्तुति आदि द्वंद नहीं सताते । जीवन की हर घटना में प्रभु का अनुभव आता है ।

४) मनुष्य को प्रभु-चिंतन करने के लिए किसी आलम्बन की आवश्यकता होती है । प्रभु का सगुण रूप आँखों के सामने रख कर हरिकीर्तन करने से संसार और ईश्वर एक ही है ऐसी कल्याणकारी भावना उदित होती है । प्रभु के गुणगान एवं कीर्तन से प्रारंभ हुआ प्रभु का मार्ग अंत में प्रभु के निरंतर स्मरण में ही विलीन हो जाता है ।

अहो ज्या नरा राम विश्वास नाही ।
 तथा पामरा बाधिजे सर्व कांहीं ।
 महाराज तो स्वामि कैवल्यदाता ।
 वृथा वाहणे देह संसार चिंता ॥७८॥

जिस मनुष्य को प्रभु पर भरोसा नहीं होता उससे अधिक मूर्ख तथा पापी और कौन हो सकता है ! उसे तो सब तरह के दुख और क्लेश भोगने पड़ते हैं । सब का स्वामी ईश्वर मोक्ष देने वाला है । प्रभु के होते हुए इस देह की, गृहस्थी की, इस संसार की चिंता करना व्यर्थ है ।

विवेचन :

१) इस श्लोक में पामर शब्द की व्याख्या मिलती है । जिस मनुष्य का प्रभु के अस्तित्व पर विश्वास नहीं होता, जो प्रभु के अस्तित्व को संदेह की दृष्टि से देखता है उसे मूर्ख, पापी कहते हैं । ईश्वर के अस्तित्व पर दृढ़ विश्वास होने का अर्थ ही भक्ति है ।

२) हर एक मनुष्य को अपने जीवन में विविध प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ता है । नास्तिक का मन हर एक समस्या के आघात से विचलित होता है । यही उसकी पीड़ा है, यही उसकी व्यथा है । नास्तिक का जीवन भय और चिंताओं से घिरा रहता है । रे मन, इस देह और इस गृहस्थी के सारे बंधन तोड़ दो और प्रभु की शरण में जाओ !

३,४) मनुष्य अपूर्ण तथा अज्ञानी होता है । एकमात्र ईश्वर ही पूर्ण तथा ज्ञानी है । अपूर्णता तथा अज्ञान में क्षुद्रता तथा दीनता का प्रदर्शन होता है । जब मनुष्य श्रद्धा से प्रभु के साथ नाता जोड़ता है तो उसे ईश्वर की पूर्णता का ज्ञान तथा ईश्वर के सामर्थ्य का आधार प्राप्त होता है । “प्रभु हमारा त्राता है” इस विश्वास से मनुष्य स्वस्थचित्त, शांतचित्त हो जाता है । हमारा क्या होगा, हमारी गृहस्थी कैसे चलेगी इसकी चिंता उसे परेशान नहीं करती । प्रभु का आश्रय प्राप्त होने से मनुष्य अति निर्भीक तथा निडर बनता है । जिसका डर लुप्त हो गया उसकी चिंता भी लुप्त हो जाती है । सम्पूर्ण निर्भयता यही कैवल्य का, मुक्ति का स्वरूप है । अतः प्रभु पर विश्वास रखकर मनुष्य को निश्चिंतता से जीवन जीना सीखना चाहिए ।

मना पावना भावना राघवाची ।
 धरी अंतरी सोडिं चिंता भवाची ।
 भवाची जिवा मानवा भूलि ठेली ।
 नसे वस्तुची धारणा व्यर्थ गेली ॥७९॥

पावना = पवित्र, भावना = विश्वास, भूलि = मन का भ्रम

रे मन, प्रभु की भक्ति मनुष्य को पावन और निर्दोष बनाती है यह विश्वास हृदय में दृढ़ करके अनित्य नश्वर संसार की चिंता छोड़ दे और अंतर्मन में प्रभु को बसा ले । संसार सत्य प्रतीत होना मानवीय जीवन का भ्रम है । यह मिथ्या विश्वास ही मनुष्य की दुर्गति का कारण है ।

विवेचन :

१) सच्चिदानंद ईश्वर पूर्णतया सत्य है । मन में दृढ़ प्रभु-भक्ति, प्रभु के प्रति श्रद्धा, जीव को पावन एवं निर्दोष बनाती है । प्रभु राम के जीवन से प्रेरणा लेकर उनका अनुकरण करने वाले भक्त का जीवन श्रेष्ठ विचारों और सद्गुणों से अलंकृत हो जाता है । सारे दोषों का प्रक्षालन होकर मन अति पवित्र हो जाता है ।

२) मन में प्रभु का ध्यान स्थापित करने के पश्चात् मनुष्य को अपनी और संसार की चिंता छोड़ देनी चाहिए । उसका कर्तव्य फिर प्रभु प्रेरित कार्य करने तक सीमित है जिसे वह अपनी शक्तिनुसार कर सकता है । बच्चा माँ का बताया कार्य करके दूर हट जाता है । उसके आगे उसकी कोई भूमिका नहीं रहती । उसके कार्यफल से भी उसे कोई सरोकार नहीं रहता । माँ ने बताया सो कर दिया । भक्त भी निश्चिंत होकर प्रभु कार्य करता है - प्रभु ने प्रेरणा दी सो कर दिया आगे प्रभु जाने !

३,४) तत्त्वज्ञान की दृष्टि से ‘मनाचे श्लोक’ का यह श्लोक महत्वपूर्ण मानना चाहिए । इसकी भूमिका इस प्रकार है - मनुष्य अज्ञान वश जीवन में अनेक मिथ्या धारणाएं बना लेता है । हमारी इन्द्रियों को अनुभूत यह दृश्य जगत पूर्णतः सत्य नहीं ! असत्य होकर भी सत्य भासित होने वाला यह संसार आज या कल हाथ से निकल जाता है, नष्ट हो जाता है । और जब हमारे परिश्रम व्यर्थ विफल हो जाते हैं तब अतीव दुख होता है ।

धरा श्रीवरा त्या हरा अंतरातें ।
तरा दुस्तरा त्या परा सागरातें ।
सरा वीसरा त्या भरा दुर्भरातें ।
करा नीकरा त्या खरा मछरातें ॥८०॥

श्रीवर = लक्ष्मीपति = ईश्वर, परा = बड़ा, हर अंतर = शिवजी का हृदय,
दुस्तर = तर जाने के लिए कठिन

श्रीशिवजी ने जिस प्रभु को अपने हृदय में धारण किया, उस प्रभु राम को अपने मन में बिठाने से सभी इस कठिन संसार सागर से पार हो सकते हैं। पेट की चिंता सदा के लिए शांत करना महा कठिन है ! उसे भुलाकर और दुष्ट द्वेष का नाश कर अपना जीवन शुद्ध, पवित्र बनाना चाहिए।

विवेचन :

१) श्रीसमर्थजी कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि वह लक्ष्मीपति श्री भगवान को पकड़े रहे। श्री शंकरजी ने जिसे अपने हृदय में स्थापित किया उस प्रभु को हम अपने मनमंदिर में स्थापित करें। माया को दूर कर भक्ति की डोर से प्रभु के साथ दृढ़ संपर्क बनाए रखें।

२) मानव जीवन अस्थिर है, असुरक्षित है। किसी को भी ऐसा पक्का विश्वास नहीं रहता कि किसी बड़ी आपत्ति या आघात के बिना उसका जीवन अंत तक सुचारू रूप से चलेगा। परंतु जो मन से प्रभु का हो जाता है, उसका जीवन सुरक्षित पार हो जाता है, ऐसा श्रीसमर्थजी का अनुभव है।

३) पेट पालने के लिए मनुष्य इधर से उधर दौड़ता फिरता है। गृहस्थी में चाहे जितना कमाए, पूरा नहीं पड़ता ! अतः गृहस्थी चलाने के लिए अधिक धन कमाने का विचार त्यागना चाहिए। अन्यथा प्रभु भक्ति असंभव है। प्रभु के अनुसंधान की उचित साधना करने वाले त्यागी विरक्त पुरुष को विषम परिस्थितियों में भिक्षा मांगने की अनुमति श्रीसमर्थजी ने इसीलिए दी है।

४) क्रोध है रजोगुण और द्वेष है तमोगुण ! ये दोनों चाण्डाल साधना करने वाले मनुष्य को भ्रष्ट करते हैं, पतित करते हैं। उनमें से द्वेष तो स्वानंद का, आत्मानंद का मुख्य शत्रु समझना चाहिए। 'स्वानंद' जितना शीतल सुख देने वाला है उतना ही 'द्वेष' दाहक है, दुखदाई है। द्वेष को जड़ सहित उखाड़ने के सिवाय किसी को भी प्रभु सान्निध्य का लाभ होना असंभव है।

मना मछरे नाम सांडूं नको हो ।
अति आदरें हा निजध्यास राहो ।
समस्तांमधें नाम हें सार आहे ।
दुजी तूळणा तूळितां ही न साहे ॥८१॥

नाम = हरिस्मरण, मछरे = ईश्या, समस्तामधें = विभिन्न साधनाओं में

रे मन, मद - मत्सरादि विकृत मनोवृत्तियों के अधीन होकर नामस्मरण नहीं छोड़ना चाहिए। श्रद्धापूर्वक पवित्र भावना से नामस्मरण का अभ्यास करना चाहिए। प्रभु-प्राप्ति के विभिन्न साधनों का निचोड़ नामस्मरण में है। इस प्रभावी सहज सुंदर नाम की तुलना और किसी साधना से नहीं हो सकती।

विवेचन :

१) ईश्या की जड़ अरूचि में होती है। अरूचि एक सीमा के आगे द्वेष तथा ईश्या निर्माण करती है। मनुष्य को बड़प्पन पाने की और दिखाने की लालसा रहती है। प्रभु नाम उपाधि रहित होने के कारण उसे लेते हुए मनुष्य अपने आप को छोटा पाता है। लोगों के बीच प्रभु की कथाएं घंटों कहने वाला मनुष्य भी एकांत में पंद्रह मिनट नामस्मरण करने का आलस करता है।

२) नाम की ओर चित्त आकर्षित होने के लिए मन में नाम के लिए आदर की भावना, प्रेम होना चाहिए। नित्य प्रभु का चिंतन ही उसकी असीमता का प्रदर्शन कर ईश्वर के प्रति आदर जगा सकता है। ईश्वर स्मरण करते समय जन्म मृत्यु की वास्तविकताएं उजागर होंगी और इस अगाध विश्व की रचना करने वाले प्रभु के आगे हमारा मस्तक अपने आप नतमस्तक हो जाएगा।

३) अनुसंधान रखना यह ईश्वर प्राप्ति के सभी साधनों का प्राण है। स्वरूप जैसे सगुण वैसे निर्गुण भी है। सगुण का अनुसंधान रखने का अभ्यास करने के प्रयास में निर्गुण का ध्यान छूट जाता है और निर्गुण में स्थिर होने के प्रयत्न में सगुण का ध्यान चूक जाता है। हरिजाप या प्रभु नामस्मरण निर्गुण का ध्यान रखकर सगुण में मन स्थिर करने वाला सरल साधन है।

४) प्रभु की अनुभूति स्थल, काल तथा दृश्य वस्तुओं के परे होती है। साधना की दृष्टि से नामस्मरण भी स्थल, काल और दृश्य पर निर्भर नहीं है। अतः 'नामस्मरण' सभी प्रकार की साधनाओं में अतुलनीय है।

बहू नाम या रामनामी तुळेना ।
अभाग्या नरा पामरा हे कळेना ।
विषा औषध घेतलें पार्वतीशें ।
जिवा मानवा किंकरा कोण पूसे ॥८२॥

किंकर = सेवक

रामनाम के आगे अन्य सभी नाम फीके पड़ जाते हैं, नीरस लगते हैं। मनुष्य का दुर्भाग्य है कि उसे रामनाम का सामर्थ्य नहीं समझता। प्रत्यक्ष श्री शंकर भगवान ने हलाहल विष के दाह शमन के लिये रामनाम की दवा ली। फिर सामान्य मनुष्य के संकट तो क्षुद्र ही हैं।

विवेचन :

१) ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि ईश्वर का आदि संकल्प सृष्टि के निर्माण के समय दिव्य नाद रूप में प्रकट हुआ। इस अनाहत नाद को ओंकार, प्रणव कहते हैं। यह अनाहत नाद सभी पिण्डों के अंतःकरण में स्थित है। 'राम' उसका ज्ञात अथवा व्यक्त शब्द रूप है। इस प्रकार एक ही नाद के ओंकार और रामनाम सूक्ष्म तथा स्थूल भाग हुए।

२) सांसारिक लोग धनवान को भाग्यवान समझते हैं। क्योंकि अधिकतर सभी सांसारिक सुख हमें द्रव्य देकर प्राप्त होते हैं। मन से रामनाम से संलग्न मनुष्य को परमार्थ में भाग्यवान मानते हैं। क्योंकि ऐसे मनुष्य को प्रयास न करते हुए भी पारमार्थिक अनुभव आसानी से होते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से जिसका भाग्य दुर्बल है ऐसे मनुष्य को रामनाम का महत्व समझ में नहीं आता है।

३, ४) समुद्र मंथन के समय समुद्र से हलाहल विष निकला और वह सारी सृष्टि को दग्ध करने लगा। सृष्टि को बचाने के लिये, जनहित के लिए श्रीशिवजी ने उसे पी लिया। उस विष के प्रभाव से उनके तन में भयंकर दाह होने लगा। दाह शमन के लिये श्री शिवजी ने अपने मस्तक पर चन्द्रमा तथा जटा में गंगा धारण की। फिर भी दाह कम नहीं हुआ। अतः उन्होंने अपने कण्ठ में रामनाम ग्रहण किया। रामनाम के प्रभाव से उस भीषण दाह का शमन हुआ। प्रत्यक्ष श्री शंकरजी ने जब रामनाम धारण किया तब फिर क्षुद्र, पामर जीव की बात ही क्या? उस हलाहल की जलन के आगे सामान्य जीव के संकटों की क्या कथा!

जेणे जाळिला काम तो राम ध्यातो ।
उमेसी अती आदरें गूण गातो ।
बहू ज्ञान वैराग्य सामर्थ्य जेथें ।
परी अंतरी नाम विश्वास तेथें ॥८३॥

श्री शिवजी जिन्होंने कामदेव को भस्म कर दिया था वे भी प्रभु श्रीराम का ध्यान करते हैं। वे देवी पार्वती के पास अति आदर से, पूज्य बुद्धि से श्रीराम के गुणों का बखान करते हैं। जो शिवजी अपने महान ज्ञान, वैराग्य तथा सामर्थ्य-संपन्नता के लिए विख्यात है, उनके हृदय में रामनाम के प्रति दृढ़ श्रद्धा दिखाई देती है।

विवेचन :

१) कामदेव ने अपना मोहजाल बिछा कर अनेकों की तपस्या भंग की पर वे श्री शिवजी की तपस्या भंग ना कर सके। उल्टे शिवजी ने ही अपनी तीसरी आँख खोलकर उन्हें भस्म कर डाला। ऐसे श्रेष्ठ विरागी श्री शिवजी भी नित्य प्रभु राम का ध्यान करते हैं।

२) श्री शिवजी अपनी पत्नी देवी पार्वती के पास अनेक प्रकार से प्रभु श्रीराम के गुणगान करते हैं। उनकी महत्ता गौरव के साथ गाते हैं। प्रभु के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा है।

३) श्रीशंकरजी वैराग्य सम्पन्न तथा सामर्थ्यशाली हैं। वे सर्व गुण संपन्न हैं। व्याकरण से वेदान्त तक और शिल्पशास्त्र से ज्योतिष शास्त्र तक सभी विज्ञान शाखाओं के वे प्रवर्तक माने जाते हैं। ये सभी शास्त्र विभिन्न ऋषियों को शंकरजी के आशिर्वाद स्वरूप ही प्राप्त हुए ऐसी धारणा है।

४) वैराग्य परमार्थ का हृदय है और ज्ञान परमार्थ का मस्तिष्क ! ये दो अंग जब बलवान होते हैं तो परमार्थ का ऐश्वर्य पूर्णतया दृष्टिगोचर होता है। सामर्थ्य संपन्न श्रीशंकरजी के हृदय में 'रामनाम' के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा है। यहाँ श्रीसमर्थजी यह संकेत देना चाहते हैं कि जिनके जीवन में ज्ञान सामर्थ्य तथा वैराग्य की कमी नहीं वे भी रामनाम पर दृढ़ श्रद्धा रखते हैं फिर जो सामान्य मनुष्य अपना परमार्थ सुधारना चाहते हैं उन्हें नित्य प्रभुनामस्मरण अवश्य ही करना चाहिए।

विठोनें शिरी वाहिला देवराणा ।
 तथा अंतरी ध्यास रे त्यासि नेणा ।
 निवाला स्वयें तापसी चंद्रमौळी ।
 जिवां सोडवी राम हा अंतकाळी ॥८४॥

विठोबा = पांडुरंग, चंद्रमौलि = चंद्रमा को धारण करने वाले शिवजी

भगवान विठ्ठलजी ने श्रीशिवजी को अपने मस्तक पर बिठाया है और शिवजी प्रभु राम के ध्यान में रत हैं। हलाहल विष पीने के बाद शिवजी के कण्ठ का दाह रामनाम के प्रभाव से शान्त हुआ था। सामर्थ्यशाली प्रभु की कृपा से ही मनुष्य को अन्तकाल में मोक्ष प्राप्ति हो सकती है।

विवेचन :

१) कृष्ण ईश्वर का पूर्णावतार है और विठोबा कृष्ण का बालरूप है। पंढरपूर में पांडुरंग यानि विठोबा की मूर्ति के मस्तक पर शिवलिंग है। उसका उल्लेख करते हुए श्रीसमर्थजी कहते हैं कि विठोबा ने जिन शंकर भगवान को प्रेम और आदर से अपने मस्तक पर धारण किया उनके हृदय में श्रीराम विराजमान हैं।

२) प्रभु पर अटूट श्रद्धा ही भक्तों के आध्यात्मिक जीवन का प्राण है। यह श्रद्धा कैसी होनी चाहिए इसका पौराणिक आदर्श है श्री शिवजी की जीवनी। इसीलिए श्रीसमर्थ जी पुनः पुनः श्रीशंकरजी का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि शंकर भगवान भी प्रभु राम की आराधना में मग्न हैं।

३) श्रीशंकरजी को हलाहल प्राशन के बाद इतनी जलन हुई कि उनका कण्ठ नीला पड़ गया। उन्होंने कंठ की तपन को शांत करने के लिए चंद्रमा को मस्तक पर धारण किया तब भी मुक्ति न मिल सकी। तब वे प्रभु राम का ध्यान करने लगे और रामनाम के जप से कष्टमुक्त हो पाए।

४) व्यवहारिक दृष्टि से जीवन के अन्तिम दिन सुखपूर्वक बिताना तो भाग्य का लक्षण है। उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन के अन्तिम क्षण प्रभु - स्मरण में, प्रभु के अनुसंधान में बिताना बहुत बड़ा भाग्य माना जाता है। कहते हैं कि मृत्यु समय जो प्रभु का नाम लेता है, उसे याद करता है उसे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। जन्म मरण के चक्र से मुक्ति मिल सकती है। नित्य नामस्मरण से यह भाग्य प्राप्त हो सकता है।

भजा राम विश्राम योगेश्वरांचा ।
 जपू नेमिला नेम गौरीहराचा ।
 स्वयें नीववी तापसी चंद्रमौळी ।
 तुम्हा सोडवी राम हा अंतकाळी ॥८५॥

योगेश्वर = योगियों में सर्वश्रेष्ठ = शिव, गौरी-हर = पार्वती और शंकर

श्री शिवजी जैसे सर्वश्रेष्ठ योगी पुरुष का विश्रान्ति स्थल श्रीराम हैं। शिव और पार्वती दोनों प्रतिदिन नियम से राम-नाम का जप करते हैं। नाम-जप के प्रभाव से श्रीशंकर जी का हलाहल पीने के पश्चात उत्पन्न हुआ दाह शांत हो गया था। अगर हम राम नाम का जप करें तो मृत्यु समय श्रीराम हमें अवश्य मुक्ति प्रदान करेंगे।

विवेचन :

१) सामान्यतः जीवन में मनुष्य की सभी वासनाएं तृप्त नहीं होतीं। भविष्य में वे पूरी होंगी इस आशा पर वह जीवित रहता है। जब मृत्यु आती है तो ये अतृप्त वासनाएं उसे पीछे खींचती हैं। परंतु आयुष्य समाप्त होने के कारण उसे देह त्यागनी पड़ती है। इस खींचातानी में जीव की दुर्दशा हो जाती है। बड़े बड़े ऋषि-मुनि भी विकारग्रस्त हो जाते हैं, असंतुष्ट रहते हैं जिसके कारण उनका जीवन सफल नहीं हो पाता। योगियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले श्रीशंकरजी प्रभु राम की शरण में आश्वस्त होते हैं, विश्राम पाते हैं। अतः मनुष्य को ध्यान रखना चाहिए कि प्रभु की शरण में जाना निजधाम पहुँचने समान है। वहाँ पहुँचकर ही सच्ची शांति मिल सकती है।

२) जो मनुष्य प्रभु के नामस्मरण का अभ्यास करता है उसकी वासनाएं क्षीण होती जाती हैं। स्वयं श्रीशंकर जी और देवी पार्वती भी नित्य नियम से प्रभु के नाम का जप करते हैं। सामान्य मनुष्य को यह नामजप ही सच्चा सुख दे सकता है।

३, ४) यह सर्व विदित है कि समुद्रमंथन के बाद विष पीने से उठी शंकरजी की व्यथा को रामनाम ने हर लिया था। मनुष्य भी अगर नामजप का नियम बना ले तो फिर उसे किसी कष्ट की चिंता नहीं सताएगी। नित्य प्रभु का नाम लेने से मृत्यु पश्चात हम मुक्ति के पात्र बन सकते हैं।

मुखी राम विश्राम तेथेचि आहे ।
सदानंद आनंद सेऊनि राहे ।
तयावीण तो सीण संदेहकारी ।
निजधाम हें नाम शोकापहारी ॥८६॥

सदानंद = सत् आनंद = सत् स्वरूप का आनंद

नामजप से शांति मिलती है, स्व-स्वरूप का आनंद मिलता है जो अखण्ड स्थायी होता है। अतः रामनाम पर संदेह मत कर। नाम तो विश्राम धाम है। यहाँ पहुँचकर दुःख सदा के लिए दूर हो जाता है।

विवेचन :

१) मुख में राम का अर्थ है मनः पूर्वक प्रभु का नामस्मरण करना। शब्दब्रह्म चिदानंद रूप होने के कारण ज्ञान और आनंद दोनों उसमें वास करते हैं। अपने घर पहुँचने का आनंद जिस प्रकार मुसाफिर को होता है उसी प्रकार के आनंद और शांति का अनुभव नामजप करने से हमें मिलता है।

२) यह दृश्यविश्व आनंद से ही प्रकट हुआ है। अतः प्रत्येक जीव का रूझान स्वभावतः आनंद की ओर होता है। इन्द्रियों के माध्यम से आनंद प्राप्त करने के प्रयास में उसे टुकड़ों में बंटा आनंद प्राप्त होता है। यथार्थ में आनंद का स्थान अपने अंतरंग में ही है। वहाँ तक पहुँचने के लिए रामनाम ही उत्तम साधन है।

३) संदेह शब्द में मूल धातू है 'दिह्'। दिह् का अर्थ है लीपना, अपवित्र करना। सम् + दिह् का अर्थ है संदेह करना, अनिश्चितता उत्पन्न करना। स्वानंद अनुभव करने के लिए अंतःकरण निर्मल, संदेह रहित होना चाहिए। कोई भी कार्य करते समय संदेह की उत्पत्ति शोक का कारण बनती है।

४) परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी ये देखने में चार अलग वाणीयाँ एक ही वाक् शक्ति की चार अवस्थाएँ हैं। वाणी को प्रभु नाम की लगन लग जाए तो नाम एक वाणी से दूसरी में अधिकाधिक गहराई तक उतरता है। अंत में वह स्फुरित होकर परावाणी तक पहुँचता है। वहाँ स्वानंद का प्रत्यक्ष परिचय होता है। स्वानंद को खण्डित होना मालूम ही नहीं! शोक का प्रश्न ही नहीं रहता। तभी तो उसे सदानंद कहते हैं।

मुखी राम त्या काम बाधूं शकेना ।
गुणे इष्ट धारिष्ट त्याचें चुकेना ।
हरी भक्त तो शक्त कामास मारी ।
जगीं धन्य तो मारूती ब्रह्मचारी ॥८७॥

काम = विषयवासना, बाँधना = जकड़ना, इष्ट = इच्छित, गुणें = आश्रय से, धारिष्ट = साहस, शक्त = समर्थ = प्रबल

जिसकी वाणी में रामनाम है उसे वासनाएं बांध नहीं सकतीं। नाम का सामर्थ्य मनुष्य को कामवासना जीतने के लिए आवश्यक धैर्य प्रदान करता है। प्रभु का भक्त वासना रूपी प्रबल राक्षस को सहज ही नष्ट कर सकता है। इसी कारण श्रेष्ठ ब्रह्मचारी रामभक्त हनुमान संसार में धन्य हैं।

विवेचन :

१) मनुष्य के जीवन में भूख, प्यास, नींद इन प्राथमिक आवश्यकताओं जैसी ही कामवासना भी एक प्रारंभिक आवश्यकता है। भारतीय जीवन पद्धति में कामवासना की नियमानुसार तृप्ति को पवित्र मानते हैं। परंतु पतिपत्नी के वैवाहिक, लैंगिक जीवन में भी संयम बरते बिना अध्यात्म साधना करना बहुत ही कठिन है। जो साधक प्रभु नाम का अभ्यास करता है, उसे कामवासना का आवेग रोकने के लिए मानसिक शक्ति आप ही प्राप्त हो जाती है।

२) साधना का सामान्य क्रम इस प्रकार है कि पहले मन की शक्ति का संचय करना और फिर उसे सूक्ष्म बनाकर उसका उपयोग ईश्वर के अनुसंधान के लिए करना। अगर मन को इन्द्रियों के पीछे भागने की अनुमति दे दी, तो मन की शक्ति क्षीण तथा निर्बल होती है। तुलना में कामवासना की तृप्ति के लिए मन, विशेष रूप से अपनी शक्ति को खो देता है, गँवा देता है।

३) परंतु कामवासना का आकर्षण बड़ा प्रबल होता है। उसके सामने सामान्य मनुष्य टिक नहीं सकता। प्रभु नाम में तल्लीन भक्त कामवासना को "ना" कहने का साहस कर सकता है। भक्त प्रभु का आश्रय पाकर उस बलिष्ठ वासना को अन्त में नष्ट कर देता है।

४) रामनाम के बल पर कामवासना को पूर्णतः पराजित करके अपना जीवन धन्य बनाने वाले बालब्रह्मचारी रामभक्त हनुमान को कौन नहीं जानता! श्रीसमर्थजी के तो वे आदर्श पुरुष थे।

बहू चांगलें नाम या राघवाचें ।
अती साजिरें स्वल्प सोपें फुकाचें ।
करी मूळ निर्मूळ घेता भवाचें ।
जिवां मानवां हे चि कैवल्य साचें ॥८८॥

साजिरें = सुन्दर, कैवल्य = मोक्ष

“राम” यह नाम बहुत ही अच्छा है । वह अति सुन्दर, छोटा सा आसान तथा बिना खर्च का है । रामनाम जपने से संसार के सभी बंधन समूल नष्ट हो जाते हैं । मनुष्य के लिए “रामनाम” मोक्ष प्राप्ति का सुलभ साधन है ।

विवेचन :

१) शब्दमय भाषा यही मनुष्य की विशेषता है । मानव देह में सच्चिदानंद आत्मा वाणी के रूप में प्रकट हुई । दृश्य संसार की अधीनता से छुटकारा पाकर स्वानंद तक पहुँचना हो तो वाणी समान अन्य साधन नहीं ! “राम” धुन वाणी का निचोड़ है । वह अति सुलभ सहज तथा नित्य प्राप्त है ।

२) ‘राम’ यह कहने को आसान और बहुत ही भला लगने वाला नाम है । स्वानंद की अनुभूति के लिए मार्ग दिखाने वाले अनेक साधन हैं । परंतु हर एक साधन के साथ कुछ ना कुछ उपसर्ग, क्लेश बंधे रहते हैं । किसी मनुष्य को किसी विशिष्ट साधन का अवलम्बन करना संभव है या नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । परंतु रामनाम की यह विशेषता है कि प्रत्येक मनुष्य इसका अभ्यास सुलभता से कर सकता है ।

३) ‘राम’ शब्द में जितना अलौकिक तेज है, सामर्थ्य है उतनी ही शीतलता और प्रसन्नता भी है । नामस्मरण के सामर्थ्य से निर्गुण निराकार परब्रह्म सुंदर सजीव रूप में भक्त को दर्शन देता है । इसके प्रभाव से भक्त का जीवन दिव्य प्रेम से आलोकित हो जाता है । रामनाम की सहायता से मनुष्य जब अपने अंतरंग में प्रवेश करता है, तो संसार का मूल कहलाने वाली वासना क्षीण दुर्बल होते होते अन्त में संपूर्णतया नष्ट हो जाती है ।

४) रामनाम का अभ्यास करने वाले हर व्यक्ति को सांसारिक बंधनों से सरलता से छुटकारा मिल जाता है । यही मोक्ष सिद्धि है । एकचित्त होकर हरिनाम जपने वाले से जो भी काम होता है वह ईश्वरीय प्रेरणा से होता है ।

जनीं भोजनीं नाम वाचें वदावें ।
अती आदरे गद्य घोषें म्हणावें ।
हरी चिंतने अन्न सेवीत जावें ।
तरी श्रीहरी पाविजेतो स्वभावें ॥८९॥

गद्य = स्पष्ट, घोष = जयघोष

समुदाय में काम करते समय तथा भोजन करते समय वाणी से प्रभु का नाम अवश्य लेना चाहिए । यह नाम अति आदर के साथ जयघोष करते हुए स्पष्ट बोलना चाहिए । प्रभु-स्मरण करते हुए अन्न-ग्रहण करने से सहजता से प्रभु-प्राप्ति होती है ।

विवेचन :

१, २) दर्पण स्वच्छ रखने से अपना मुख उसमें स्पष्ट दिखता है । उसी तरह अंतःकरण शुद्ध होने से उसमें अपने स्वरूप की निर्मल, पवित्र अनुभूति होती है । अंतःकरण की शुद्धता के लिए इंद्रियों के आहार की शुद्धि होनी चाहिए । इंद्रियों में रसना को बहुत महत्व है । जिह्वा के दो काम हैं - अन्न ग्रहण करना और बोलना । इन दोनों का परमार्थ से अति निकट संबंध है । जिसने अपनी रसना पर विजय प्राप्त कर ली, जिसने अपनी जिह्वा वश में कर ली उसने आधा रस्ता तय कर लिया ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा । भक्त ईश्वर के नाम का जयघोष करके दूसरों को भी जागृत करते हैं ।

३) प्रभु नाम जपने वाला साधक अगर अपनी त्वरित प्रगती चाहता है तो उसे अपने आहार का कड़ाई से नियमन करना चाहिए । भोजन ताजा तथा सात्विक होना चाहिए । भारी भोजन के सेवन से आलस्य आता है । मादक पदार्थ तथा मादक पेय सेवन करना उचित नहीं है ! बिना भूख के अन्न सेवन नहीं करना चाहिए । सम्भव हो तो दूध और फल लें । प्रभु-चिंतन करते हुए अन्न ग्रहण करें तो आहार नियमन सरलता से हो सकेगा ।

४) अन्न ग्रहण करना और कामवासना का उपभोग करना इन दोनों प्रसंगों में जो मनुष्य अपनी मनोवृत्ति ‘प्रभु नाम’ से पृथक नहीं होने देता उसे प्रभु-दर्शन होने में देर नहीं । परंतु दोनों प्रसंगों में ‘नाम’ को पकड़े रहना इतना आसान नहीं । हम ‘नाम’ में कितने तल्लीन होते हैं, नाम से कितने अधिक जुड़े हैं, इसकी सहज कसौटी इन दोनों अवसरों पर हो जाती है ।

न ये रामवाणी तथा थोर हाणी ।
जनी वेर्थ प्राणी तथा नाम काणी ।
हरी नाम हे वेद शास्त्रीं पुराणीं ।
बहू आगळें बोलिली व्यास वाणीं ॥१०॥

काणी = अनुपयोगी, भीतर से काला पड़ा, रोग ग्रसित जौ का दाना

जिसकी वाणी प्रभु नाम लेना नहीं जानती उसकी बहुत भारी हानि होती है ।
ऐसे तुच्छ मनुष्य का जीवन व्यर्थ है । वेदों, शास्त्रों तथा पुराणों में व्यासजी ने
'नाम' की श्रेष्ठता सदियों पहले से वर्णन की है ।

विवेचन :

१) भारतीय संस्कृति अध्यात्मप्रधान होने के कारण ईश्वर दर्शन इसका परमोच्च ध्येय माना जाता है । प्रभु नाम जपना उस ध्येय का दैनंदिन साधन है । श्रीसमर्थजी कहते हैं कि इस दृष्टि से जो नित्य नामस्मरण नहीं करता उसकी बहुत हानि होती है, उसका जीवन ही व्यर्थ हो जाता है । वह धन दौलत पाकर भी कुछ नहीं पाता !

२) जिस प्रकार जौ का खराब जन्तुसंसर्गित दाना ऊपर से सामान्य प्रतीत होता है पर अन्दर से काला होता है और उसके सेवन से हानि होती है, वैसे ही प्रभु का नाम न जानने वाला प्राणी समाज के लिए हानिकारक होता है । स्वार्थ में अन्धा होकर जब कोई मनुष्य परमात्मा का अस्तित्व मानने से इंकार कर देता है, अपना छोड़ और किसी का सुख नहीं देखना चाहता, समाज के लिए कलंक साबित होता है । वह अपने हित के आगे समाज को तुच्छ मानता है । अपने लाभ के लिए कोई भी निषिद्ध कर्म कर सकता है । ऐसा हीन व्यक्ति अपने पापों का फल भोगता है । मनुष्य जन्म पाकर भी वह अभागा उसके श्रेष्ठत्व से वंचित जानवरों से भी बदतर जीवन व्यतीत करता है और सारा पुण्य गवाँ बैठता है ।

३,४) प्रभु प्राप्ति के परमोच्च ध्येय के अनेक अंगों का वर्णन वेदों से लेकर आधुनिक संतों के ग्रंथों में भी मिलता है । प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में महर्षि व्यास जी ने ईश्वर का, उसके सक्षात्कार का तथा दर्शनानंद का बहुत ही मार्गदर्शक वर्णन किया है । मनुष्य को चाहिए कि वह नेक मार्ग पर चल कर अपना जीवन सफल बनाए । सद्ग्रन्थों का अभ्यास करे और ऋषि मुनियों के बताए मार्ग का अनुसरण करते हुए श्रेष्ठत्व को प्राप्त होवे ।

नको वीट मानूं रघूनायेकाचा ।
अती आदरें बोलिजे राम वाचा ।
न वेचे मुखीं सांपडे रे फुकाचा ।
करी घोष त्या जानकी वल्लभाचा ॥११॥

रे मन ! प्रभु नाम लेने का आलस मत कर । प्रभु से मत मुँह मोड़ । अति पूज्य भाव से प्रभु का नाम ले । परमप्रभावी रामनाम तो तुझे मुफ्त में मिल रहा है । नित्य नाम जपने से सुलभता से ईश्वर प्राप्ति होती है । अतः नित्य प्रभु के नाम का जयघोष अवश्य कर ।

विवेचन :

१,२) परमार्थ साधन में प्रमुख अड़चन यह है कि साधक के मन में प्रभु दर्शन का ध्येयपुष्प हमेशा खिला हुआ विकसित नहीं रहता । वह अति शीघ्र म्लान हो जाता है, कुम्हला जाता है । हमारे मन को दृश्यसंसार का नैसर्गिक आकर्षण होता है । अतः अगोचर ईश्वर के पास उसे अधिक समय तक स्थिर रखना असंभव हो जाता है । ईश्वर से विचलित हुआ मन पूज्यभाव से नामस्मरण नहीं करता । यहाँ साधक को बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए । अगर ध्येयप्रेम कुछ समय के लिए म्लान हुआ हो तो भी साधक को अपनी साधना पूर्ववत् चालू रखनी चाहिए । ऐसा श्रीसमर्थजी का आदेश है ।

३) अन्य किसी भी ध्येय की प्राप्ति के लिए कुछ ना कुछ मूल्य तो चुकाना ही पड़ता है । परंतु यहाँ की बात अनोखी है । ईश्वरदर्शन का अर्थ है अपने सत्य स्वरूप का दर्शन । हम अपने ही स्वरूप की भेट करने के लिए किसी को क्या देंगे ? अतः आत्मज्ञान की साधना में कुछ त्यागना, छोड़ना नहीं होता, ना ही कुछ जुटाना, जोड़ना होता है । केवल अपनी ओर देखने की दृष्टि बदलनी चाहिए, उसमें परिवर्तन करना चाहिए । इस अर्थ से ईश्वर के दर्शन के लिए कुछ मोल देना नहीं पड़ता ।

४) किसी पाठ को कई बार दोहराने से वह हमें कुछ ऐसा याद हो जाता है कि फिर भुलाने से नहीं भूलता । नित्य हरिपाठ का यही महत्व है । झूठ ना बोलो, संयम रखो, सबसे स्नेह से व्यवहार करो इत्यादि वक्तव्य आवश्यकता पड़ने पर याद नहीं आते और बात बिगड़ जाती है । नित्य नामस्मरण परीक्षा की घड़ी में बहुत काम आता है और हमसे पाप नहीं होने देता । इसीलिए नित्य नियम से सीतापति श्रीराम का जयघोष अवश्य करना चाहिए ।

अती आदरें सर्व ही नामघोषें ।
गिरीकंदरे जाइजे दूरि दोषें ।
हरी तिष्ठतु तोषला नामतोषें ।
विशेषें हरा मानसीं रामपीसैं ॥९२॥

गिरीकन्दर = पर्वत गुहा, तोष = संतोष, रामपीसैं = रामनाम की लगन

जो कोई अति पूज्य भाव से, प्रेम से नामस्मरण करता है उसके सारे दोष, समस्त पाप दूर गिरीकंदराओं में जाकर छिप जाते हैं। जिस जगह प्रभु नाम का जयघोष होता है, वहाँ अति संतोष से प्रभु निवास करते हैं। श्री शिवजी की यह विशेषता है कि वे प्रेमपूर्वक रामनाम की लगन में रंगे रहते हैं।

विवेचन :

१, २) वस्तुतः हर एक व्यक्ति अपूर्ण है। यह आवश्यक नहीं है कि ईश्वर दर्शन के लिए यह अपूर्णता संपूर्ण नष्ट हो जाए। “मैं कर्ता हूँ” यह सोच ईश्वर के दर्शन में आड़े आती है। प्रभु नाम के जयघोष से अहंकार क्षीण हो जाता है। काम, क्रोध, पापवासना सारे दोष मानो दूर गिरी कन्दराओं में पलायन कर जाते हैं। इसीसे प्रभु का अस्तित्व प्रकट होता है जिसके फलस्वरूप शांति और संतोष की अनुभूति होती है।

३) श्री परमहंसजी ने अपने शिष्य की शराब छुड़ाने के लिए उसे आदेश दिया कि कुछ भी ग्रहण करने से पहले वह उसका प्रसाद गुरु को चढ़ाए। एक दो बार मदिरा का प्रसाद चढ़ाने के बाद उस शिष्य को बहुत ग्लानि हुई कि जिस गुरु का वे सम्मान करते हैं उन्हें इतनी निंदनीय वस्तु प्रसाद रूप में भेंट चढ़ा रहे हैं ! यह विचार आते ही शिष्य का व्यसन हमेशा के लिए छूट गया। मन में ईश्वर के प्रति अगर प्रेम और आदर की भावना हो, प्रत्येक कार्य अगर हम ईश्वर को समर्पित करें तो अपने आप ही कार्य शुद्ध होता जाएगा।

४) यह बात सच है कि जब तक नाम का अनुसंधान है तब तक प्रभु के सान्निध्य का अहसास रहता है। परंतु नाम का अनुसंधान रखना, निरंतर साधना करना आसान नहीं है। उसके लिए नाम की लगन लगना आवश्यक है। श्री शिवजी को रामनाम की लगन थी अतएव श्रीसमर्थजी बार बार हमारे सामने योगेश्वर श्री शंकर जी का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

जगी पाहता देव हा अन्नदाता ।
तथा लागली तत्वता सार चिंता ।
तथाचे मुखी नाम घेता फुकाचें ।
मना सांग पां रे तुझें काय वेचे ॥९३॥

संसार में देखा जाए तो ईश्वर ही सभी जीवों का भरण पोषण करते दिखाई देते हैं। वस्तुतः ईश्वर ही सभी जीवों की सब प्रकार से चिंता उठाते हैं। रे मन, फिर उस ईश्वर का नाम जपने में भला तुम्हारा क्या नुकसान होता है।

विवेचन :

१) संसार के व्यवहार में ऐसा अनुभव आता है कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए प्रायः अन्न की कमी नहीं रहती। किन्तु कुछ लोगों के स्वार्थी व्यवहार के कारण अन्य सभी लोगों को अन्न की कमी खलती है। यह देह एक साधन मात्र है जिसका उपयोग सत्कर्म के लिए करना चाहिए। इसका ध्यान रखके जो जीवन जीता है उसे देह निर्वाह के लिए निश्चित रूप से पर्याप्त अन्न प्राप्त होता है। ऐसा कभी नहीं सुना कि किसी साधक की मृत्यु अन्न की कमी के कारण हुई हो।

२) संतों का ऐसा अनुभव है कि जिस सूक्ष्म तथा ज्ञात सत्ता से मनुष्य इस जगत् में प्रवेश करता है, जन्म लेता है, वही शक्ति उसके भरण पोषण की भी व्यवस्था करती है। मनुष्य उस सहाय्यकर्ता का केवल अहसान माने इतना ही पर्याप्त है। ऐसा समझना चाहिए कि ईश्वर का नाम स्मरण करना उस आत्मसत्ता की सहायता का उपकार मानने का व्यक्त रूप है। आत्मसत्ता का सामर्थ्य अक्षरशः अनंत तथा अपार है। उस पर भरोसा कर, श्रद्धा रखकर नामस्मरण करनेवाले को कभी किसी चीज की न्यूनता हो यह संभव नहीं !

३, ४) सृष्टि के रचयिता ने हमें भी बनाया। उनकी श्रेष्ठता क्या हम पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं ? उस परम पिता परमेश्वर ने हमें क्या कुछ नहीं दिया ! पर क्या सच्चे दिल से हम उसका गुणगान करते हैं ? मनुष्य अधिकांशतः इस चर्चा में उलझा रहता है कि उसके पास क्या क्या न्यून है ! मनुष्य कृतघ्नता की सारी सीमाएं लांघ जाता है। पर अभागे को यह नहीं समझता कि एक ईश्वर ही उसका सहारा बन सकता है। ईश्वर का नित्य स्मरण ही मनुष्य को उन्नत मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे सकता है।

तिन्ही लोक जाळूं शके कोप येतां ।
निवाला हरू तो मुखें नाम घेतां ।
जपें आदरे पार्वती विश्व माता ।
म्हणोनि म्हणा तेंच हे नाम आतां ॥१४॥

तीन लोक = स्वर्ग, नर्क और पाताल, निवाला = शान्त हुआ

संहारदेव श्रीशंकरजी क्रोधित हो जावें तो त्रिभुवन भस्म कर सकते हैं । परंतु राम नाम जपने से उनका क्रोध भी शांत हो जाता है । उसी प्रकार विश्व माता देवी पार्वती भी आदर से प्रभु नाम जपती हैं । इसका ध्यान रखकर हर एक को ईश्वर स्मरण करना चाहिए ।

विवेचन :

१, २) यहाँ बड़ों के उदाहरण प्रस्तुत करके नामस्मरण की महत्ता बताई है । श्रीशंकरजी के पास तीसरी आँख है । जिसके खुलते ही यह पृथ्वी भस्म हो सकती है । कहते हैं जब शिवजी रौद्र रूप धारण करते हैं तब उनके क्रोध के आगे किसी की नहीं चलती । ऐसे संहारक शिवजी का क्रोध रामनाम के प्रभाव से शांत हो जाता है । यहाँ श्रीसमर्थजी यह बता रहे हैं कि प्रत्येक साधक को सुख-शांति के लिए नित्य नामस्मरण की आवश्यकता है । इस संसार में अनेक व्यक्ति स्वार्थ के लिए दूसरों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं जिसे देख क्रोध आना स्वाभाविक है । परंतु यह क्रोध क्या सत्य के मार्ग पर, उन्नति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है । या फिर प्रतिशोध की ज्वाला दुराग्रही होकर अनुचित कर्म करने को उकसाती है । विकट परिस्थितियों में हम शांत रहकर ही बुद्धि का सही उपयोग कर सकते हैं, उचित निर्णय ले सकते हैं । और शांत रहने के लिए नामस्मरण दिव्य कुंजी है । इसकी सहायता से सभी विकृत विकार काबू में रहते हैं । इसके प्रभाव से दुर्गम पथ पर भी हम निश्चिंतता से अपना मनोबल ऊँचा रखते हुए चल सकते हैं ।

३, ४) विश्वमाता पार्वतीजी भी शंकरजी का अनुकरण करते हुए अति आदर के साथ ईश्वर का नित्य स्मरण करती हैं । हमें भी उन्हीं की तरह आदर से प्रभु नाम का जाप करके अपना कल्याण करना चाहिए । यह सरल सुन्दर मार्ग सभी का उद्धार कर सकता है । नाम के प्रभाव से हम सबका मन निर्मल, पुण्यग्राही, पवित्र बन सकेगा और हम मोक्ष प्राप्ति के लायक बन सकेंगे ।

अजामेळ पापी वदे पुत्रकामें ।
तथा मुक्ति नारायणाचेनि नामें ।
शुकाकारणें कुंटणी राम वाणी ।
मुखें बोलतां ख्याति झाली पुराणीं ॥१५॥

कुंटणी = वेश्या

पापी अजामील मरते समय पुत्र प्रेम में फंस गया । उसके पुत्र का नाम था - 'नारायण' । मृत्यु समय नारायण नारायण नाम पुकारने पर अजामील को मुक्ति मिली । अपने तोते को 'राम राम' रटाने वाली गणिका का 'राम' नाम से उद्धार हो गया तथा पुराणों में उसका नाम अमर हो गया ।

१, २) भागवत में अजामिल की एक कथा है । वह एक दुष्ट ब्राह्मण था । उस पापी के अनेक सन्तानें थीं । सबसे छोटा था 'नारायण' ! नारायण पर उसका असीम प्रेम था । यही कारण था कि अजामिल अपने पुत्र को मरते समय पुकार रहा था । पुत्र नारायण ने सुना हो या ना हो पर भगवान ने उसकी सुन ली ! मृत्यु समय नारायण नारायण नाम की आर्त पुकार शायद ऐसा क्षण पास खींच लाई जब उसे प्रभु साक्षात्कार हुआ और उसकी मृत्यु टल गई । इस घटना के पश्चात वह बदल गया और उसने अपना उर्वरित जीवन प्रभु भक्त बनकर बिताया । नैतिक दृष्टि से पतित पुरुष भी प्रभु नाम से शुद्ध पवित्र बनता है । और फिर प्रभु दर्शन के योग्य बन जाता है ।

३, ४) पुराणों में एक कथा है - पिंगला नामक एक वेश्या थी । उसने अपने तोते को 'रामनाम' रटाया था । उस समय भगवान के अस्तित्व का स्मरण उसके मस्तिष्क के किसी कोने में अवश्य रहा होगा । हो सकता है कि तोते की रामनाम की रट ने उसके अन्दर की सुप्त आत्मा को जगा दिया हो और वह बुरे काम छोड़कर प्रभु साधना करने लगी हो ! तभी वह भाग्यशाली मोक्ष को प्राप्त हुई । मनुष्य का व्यक्तित्व अति जटिल होता है । किसके अंतर्मन में कौनसा संस्कार छिपा है इसका पता नहीं चलता । अध्यात्म का संस्कार अगर सुप्त हो तो वह प्रभु नाम से सचेत होकर प्रकट होता है । फिर उस व्यक्ति का पूर्वायुष्य अध्यात्म के लिए प्रतिकूल होते हुए भी अचानक उसके जीवन में अध्यात्म का प्रकाश दिखाई देने लगता है ।

महाभक्त प्रल्हाद हा दैत्यकूळीं ।
जपें रामनामावळीं नित्यकाळीं ।
पिता पापरूपी तथा देखवेना ।
जनीं दैत्य तो नाम मूर्खें म्हणेना ॥१६॥

श्रेष्ठ भक्त 'प्रल्हाद' राक्षस कुल में जन्मा था । परंतु वह निरंतर रामनाम का, प्रभुनाम का जप करता था । उसका पिता हिरण्यकश्यपु बड़ा पापी था । वह प्रल्हाद का नामस्मरण करना सह नहीं सकता था । उसने स्वयं कभी भगवान का नाम नहीं लिया था ।

विवेचन :

१) नीतिमान पुरुष ईश्वर के नामस्मरण से प्रभु-दर्शन की योग्यता पाता है, यह उचित ही है । परंतु नैतिक दृष्टि से पतित पुरुष भी प्रभु नाम से शुद्ध, पवित्र बन जाता है । मनुष्य का मनुष्यत्व सदाचरण से प्रकट होता है इसमें संदेह नहीं ! ईश्वर दर्शन से आत्मज्ञान पाकर मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त होता है । यदि किसी मनुष्य का नीतिगत पतन होता है तो अध्यात्म ही उसका उद्धार कर सकता है ।

२) अध्यात्म का संस्कार अति प्रबल होता है । वह जागृत रहता है तो बाह्य परिस्थिति उसकी प्रगति रोक नहीं सकती ! इसका प्रमाण भक्त प्रल्हाद के उदाहरण से मिलता है । अतः इसका स्मरण रहे कि अध्यात्म में प्रगति करना या न करना यह पूरी तरह से हमारे ऊपर निर्भर है ।

३, ४) भक्त प्रल्हाद का जन्म दैत्यकुल में हिरण्यकश्यपु के घर हुआ था । प्रभु-भक्त प्रल्हाद बचपन से ही नित्य साधना करता था । हिरण्यकश्यपु को अपने बल पर बहुत गर्व था । उसे वर प्राप्त था कि घर के अन्दर या बाहर मृत्यु प्राप्त नहीं होगी । इसी कारण वह किसी ईश्वरीय सत्ता का बड़प्पन मानने को तैयार नहीं था । वह खुद भी प्रभु का नाम नहीं लेता था ना ही किसी और को लेने देता था । वह चाहता था कि लोग उसी की पूजा करें । परंतु जब उसका बेटा प्रभु साधना करने लगा तब वह बड़ा क्रोधित हुआ । उसने अपने ही पुत्र प्रल्हाद को मार डालने की कई बार कोशिश की पर असफल रहा । जिसकी प्रभु रक्षा करता है उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता ! अन्त में प्रभु खम्बे में से प्रकट हुए और उन्होंने घर की देहरी पर हिरण्यकश्यपु का पेट फाड़ कर उस नराधम का अंत किया ।

मुखीं नाम नाही तथा मुक्ति कैची ।
अहंता गुणें यातना ते फुकाची ।
पुढे अंत येईल तो दैन्यवाणा ।
म्हणोनी म्हणा रे म्हणा देवराणा ॥१७॥

जिसके मुख में प्रभु का नाम नहीं है, जिसे रामनाम प्यारा नहीं है उसे मुक्ति मिलना क्या कभी संभव है ? 'कर्मा' होने के अभिमान से वह व्यर्थ ही यातना भोगता रहता है । ऐसे मनुष्य को दयनीय अवस्था में मृत्यु आती है । अतः सबको प्रभु का नाम अवश्य लेना चाहिए ।

विवेचन :

१) मुख में राम का न होना मनुष्य के अहंकार का लक्षण है । अहंकारी मनुष्य अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है । वह सारे समय नश्वर संसार की व्यर्थ क्षणभंगुर क्रियाओं के ताने बाने बुनता रहता है और मृत्यु समय अनेक वासनाओं में लिप्त हुआ उसका मन बहुत क्लेश उठाता है । ऐसे मनुष्य को मुक्ति क्या है इसकी कल्पना ही नहीं रहती ! उसे पाना तो दूर की बात !

२, ३) एक न एक दिन हमें इस संसार को छोड़ना ही पड़ेगा इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं ! हमारे अस्तित्व का औचित्य कर्तव्य निभाने से है, बंधनों में उलझने से नहीं ! जिसकी देहबुद्धि प्रबल है, जिसका अहंकार सिर चढ़कर बोलता है उसका मन सांसारिक पाशों में उलझा रहता है और सारे समय व्यर्थ चिंताएं सताती रहती हैं । मृत्यु के डर से वह जीवन भर यातनाएं सहता है और मृत्यु समय उसका मन अशांत, शोकमग्न रहता है ।

४) प्रभु नाम लेने वाले मनुष्य का मन स्थिर होने लगता है । इस कारण जीवित अवस्था में भी उसका मन दृश्य वस्तुओं में अधिक उलझता नहीं है । मृत्यु आने पर देह छोड़ते समय वह शांति और संतोष से सत्य स्वीकार करता है । ईश्वर सबके पास है ! उसके प्रति श्रद्धा भाव रखना या उससे विमुख होना स्वयं निश्चित करना है । मनुष्य ठान ले तो अपने दो हाथों से अनगिनत सुन्दर पवित्र श्रेष्ठ काम भी कर सकता है और स्वार्थ में लिपटा रहे तो कुकर्म से अपने हाथ मलिन भी कर सकता है । निश्चित करना है कि हम मोक्ष चाहते हैं, सत् चित् आनन्द चाहते हैं या फिर कुछ और ।

हरीनाम नेमस्त पाषाण तारी ।
 बहू तारिले मानव देहधारी ।
 तथा रामनामीं सदा जो विकल्पी ।
 वदेना कदा जीव तो पापरूपी ॥९८॥

विकल्पी = उलटी बातें सोचने वाला, नेमस्त = निश्चित रूप से

रामनाम से जब पत्थर भी निश्चित रूप से तर गए तब रामनाम से मानव देह धारी असंख्य जीवों का उद्धार हुआ इसमें आश्चर्य किस बात का ? परंतु कुछ मनुष्य रामनाम के बारे में सदा संदेह ही करते रहते हैं । कभी भी प्रभु नाम न लेने वाला जीव सचमुच ही पापी समझना चाहिए ।

विवेचन :

१) लंका पर चढ़ाई के वक्त समुद्र पर सेतु बांधते समय हनुमानजी ने पत्थरों पर 'राम' लिख कर पानी पर रखा तो वे डूबे नहीं वरन् तैरने लगे और देखते ही देखते सेतु तैयार हो गया ! इतना विश्वास था भक्त हनुमान को, प्रभु के प्रति इतनी श्रद्धा थी उनके मन में ! इसी प्रसंग का उल्लेख करते हुए श्रीसमर्थजी कहते हैं कि जब अचेतन पत्थर रामनाम की कृपा से तर गए तो श्रद्धालु भक्त रामनाम की कृपा से अवश्य ही भवसागर पार कर सकेंगे ।

२) अध्यात्म शास्त्र में मायानदी की एक महान कल्पना दिखाई देती है । संसार में जन्म लेने वाले सभी जीव - अर्थात् मनुष्य भी - इस मायानदी के प्रवाह में बह रहे हैं । मनुष्य के बारे में कहते हैं कि नब्बे फीसदी लोग प्रवाह की धारा में गोता खाते हैं, चट्टानों से टकरा जाते हैं और अन्त में लापता हो जाते हैं । परंतु प्रभुनाम की डोर पकड़ कर रखने वाले तो गोता खाए बगैर सुरक्षित पार हो जाते हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि नामस्मरण का अभ्यास करने से जीवन के कटु प्रसंग मनुष्य को निराश नहीं करते । प्रभु के नामस्मरण में मनोबल ऊँचा उठाने की अद्भुत शक्ति है ।

३, ४) प्रभु नाम का परिणाम प्रत्यक्ष देखने पर भी कुछ लोग उस बारे में सशंकित रहते हैं, उसे क्या करें ? ईश्वर के विस्मरण को पाप कहते हैं । जो पापी जीव है, उसे प्रभु नाम के बारे में संशय होना तो पापकर्मों का ही परिणाम होता है । ऐसे मनुष्य को चाहे जितना समझावें तो भी वह ईश्वर का नाम लेने के लिए प्रवृत्त नहीं होता, राजी नहीं होता ।

जगीं धन्य वाराणसी पुण्यरासी ।
 तये माजिं जातां गती पूर्वजांसी ।
 मुखे रामनामावळी नित्यकाळी ।
 जिवा हीत सांगे सदा चंद्रमौळी ॥९९॥

अति पवित्र काशी क्षेत्र संसार में सचमुच धन्य है । काशी क्षेत्र में मृत्यु प्राप्त होने से अपने साथ अपने पूर्वजों को भी उत्तम गति प्राप्त होती है । "वाणी से प्रभु का निरंतर नामस्मरण करना" यह हितकारक बात वहाँ श्री शिवजी सबके कान में बताते हैं ।

विवेचन :

१) साधु संतों के सहवास में मनुष्य का कल्याण निश्चित है । मृत्यु समय सत्पुरुषों के बीच पवित्र क्षेत्र में वास होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसी धारणा है । श्री समर्थजी के समय काशी क्षेत्र को सबसे अधिक पवित्र माना जाता था और वहाँ मृत्यु को प्राप्त होना लोग अपना भाग्य समझते थे ।

२) संतान के कल्याण में ही माता पिता का कल्याण निहित है, उनके जीवन की सार्थकता है । संतान को सद्गति मिले तो पूर्वजों का जीवन सफल हुआ यही भाव इस चरण में है । काशी क्षेत्र में गंगा के पवित्र किनारे पर सांसारिक मोहपाशों से दूर सत्पुरुषों के सहवास में अंतिम समय गुजारने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है और मोक्ष से बढ़कर उत्तम गति नहीं !

३) कुछ का मानना है कि ईश्वर पर विश्वास न करके भी नीति नियमों का पालन और सदाचरण किया जा सकता है पर यह निरा भ्रम है । अच्छे बुरे की पहचान विज्ञान के आधार पर करना नामुमकिन है । श्रेष्ठ कनिष्ठ का भेद बुद्धि या तर्क की सीमा के बाहर है । श्रद्धा, प्रेम और विश्वास न हो तो सदाचरण संभव नहीं । बुरा कहे नहीं, बुरा सुने नहीं, बुरा करे नहीं, बुरा सोचे नहीं ऐसी पवित्र अवस्था श्रद्धा के बिना नहीं प्राप्त हो सकती । हमारी इन्द्रियों पर कब मोह का जादू चल जाए कहा नहीं जा सकता । छोटी सी समस्या, तनिक सा देहदुख भी मन की शांति हरने के लिए काफी है । ऐसे में सदाचरण, नीति नियमों का पालन कैसे हो पाएगा यह बड़ा प्रश्न है । एक हरिनाम ही हमें पथभ्रष्ट होने से बचा सकता है ।

४) श्री शिवजी काशी क्षेत्र के मुख्य देवता होने के कारण वहाँ मृत्यु को प्राप्त होने वाले हर एक जीव को परम हितकारी रामनाम का उपदेश देते हैं ऐसी धारणा है । उस उपदेश का संदर्भ इस श्लोक में मिलता है ।

येथासांग रे कर्म तें हि घडेना ।
 घडे धर्म तें पुण्य गांठीं पडेना ।
 दया पाहतां सर्वभूतीं असेना ।
 फुकाचें मुखीं नाम ते हि वसेना ॥१००॥

येथासांग = यथोचित = कुछ न्यून न रखकर

मनुष्य के हाथ से यथोचित कर्म तो होता नहीं ! और जो धर्मकर्म होता है उसमें न्यूनता रहने से उसका पुण्य पल्ले नहीं पड़ता । अन्य प्राणीमात्रों के लिए अंतःकरण में दया की भावना भी नहीं होती । और प्रभु का सरल नाम भी मुख में नहीं आता !

विवेचन :

१) शास्त्रकार कहते हैं कि नियमानुसार, शास्त्रोक्त कर्म करने से पुण्य प्राप्ति होती है । परंतु कर्माचरण में बाधा यह है कि शास्त्रवत् कर्म यथोचित होना जिसमें कहीं कुछ भी न्यून न हो, अति कठिन होता है । इस कारण से कर्म करने के पश्चात् अपेक्षित पुण्य का संचय नहीं हो पाता । वस्तुतः विधीवत् कर्माचरण से चित्तशुद्धि होनी चाहिए परंतु वैसा कुछ अनुभव नहीं आता ।

२) लोग अनेक प्रकार के यज्ञ, पूजापाठ, तीर्थयात्रा, होम हवन, व्रत इत्यादि करते नजर आते हैं ! अन्नदान, गोप्रदान, दक्षिणा इत्यादि भी देते हैं । परंतु यह सब अधिकांशतः अंधश्रद्धा से या फिर अनिच्छा से परिजनों के दबाव में आकर किया जाता है ! मन में दया भावना या स्नेह कम और सामाजिक प्रतिष्ठा का दिखलावा अधिक होता है ।

३) देहबुद्धि कम होना अथवा स्वार्थ क्षीण होना चित्तशुद्धि का लक्षण है । दूसरों का दुःख निवारण करने के लिए दयावान मनुष्य स्वयं कष्ट सहता है । इससे स्वार्थ क्षीण होकर पुण्य का संचय बढ़ता है । सामान्य मनुष्य यह कर ही नहीं सकता । सारे प्रयास देह कष्ट को बचाने हेतु किए जाते हैं ! स्वार्थ लिप्त मन में दूसरों के लिए दया या स्नेह का भाव नहीं उपजता ।

४) पूर्णतः शास्त्रवत् कर्माचरण नहीं, पूर्णतः विशुद्ध दयाबुद्धि नहीं तो फिर कम से कम मनुष्य अखण्ड निरंतर नामस्मरण तो करे । नामस्मरण से मन अन्तर्मुख होता है । आत्मानंद का अनुभव होने से मनुष्य की देहबुद्धि आप ही क्षीण होने लगती है । यही पारमार्थिक प्रगती के उत्कर्ष का सूचक है । निःस्वार्थी मनुष्य के मन में दया, क्षमा तथा शांति सहज ही उत्पन्न होती है ।

जया नावडे नाम त्या येम जाची ।
 विकल्पें उठे तर्क त्या नर्क ची ची ।
 म्हणोनी अति आदरें नाम घ्यावें ।
 मुखें बोलतां दोष जाती स्वभावे ॥१०१॥

विकल्प = संशय, दोष = देहबुद्धि = स्वार्थ, ची ची = घृणा

जिसे प्रभु का नाम अच्छा नहीं लगता उसे यमराज दुख देता है । नाम के संबंध में संदेह करके कुतर्क करना यह तो नर्क की दुर्गन्ध जैसा है । अतः अति पूज्यभाव से, आदर से ईश्वर का नाम लेना चाहिए । पूज्यभाव से नामस्मरण करने से देहबुद्धि के दोष आप ही दूर हो जाते हैं ।

विवेचन :

१) नित्य प्रभुनामस्मरण ऐसा साधन है जो मनुष्य को ईश्वर के प्रति श्रद्धा, कर्तव्यपालन और सदाचरण की ओर प्रेरित करता है । परंतु जिसे प्रभुनाम की चाह नहीं है ऐसा मनुष्य नश्वर संसार में अति आसक्त होने से जीवन भर दुख, कष्ट सहता है और अंतकाल में चिंताओं के घेरे में दम तोड़ता है । इस संसार को अपना सर्वस्व मानकर अपने सुख के लिए कष्ट से जोड़ा हुआ तमाम सामान छोड़ के जाते समय जीव अनेक यातनाएं सहता है ।

२) सामान्य मनुष्य के मन में विकल्प अर्थात् संदेह आना कोई अनुचित बात नहीं है । परंतु व्यवहारिक संबंधों में हम जितना विश्वास रखते हैं, उतना विश्वास प्रभुनाम के संबंध में रखने में कोई हानि नहीं है । नाम के विषय में कुतर्क आत्मघाती सिद्ध होते हैं । इन्हीं के कारण मनुष्य का अधःपतन होता है ।

३, ४) महान संत सदैव प्रभु नाम का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं । मनुष्य को उन पर विश्वास रखकर मनःपूर्वक नामस्मरण का अभ्यास करना चाहिए । नाम की सत्ता ही ऐसी असामान्य है कि प्रभुप्राप्ति का प्रतिबंध करने वाले स्वभाव के दोष वह स्वयं हटा कर श्रेष्ठ गुणों में अनजाने ही वृद्धि कराती है । काम, क्रोध, आसक्ति, निराशा, अस्वस्थता दूर होती जाती है और प्रसन्नता, विवेक-बुद्धि, कार्यक्षमता बढ़ती है । ईश्वर के प्रति आदर, संसार की सभी अच्छाईयों के प्रति आदर जगाता है जिससे वैमनस्य कम होकर सुख शांति में वृद्धि होती है ।

अती लीनता सर्वभावें स्वभावें ।
मना सज्जनालागि संतोषवावें ।
देहे कारणीं सर्व लावीत जावें ।
सगुणीं अति आदरेंसी भजावें ॥१०२॥

सर्वभावे = मनःपूर्वक, स्वभावे = अकृत्रिम, कारणी = अच्छे कार्य के लिए, मनुष्य को स्वभावतः विनम्र होना चाहिए । ऐसी स्वाभाविक विनम्रता से संतों को, सत्पुरुषों को अति संतोष होता है । अच्छे कार्य के लिए हमें कष्ट उठाने को तत्पर रहना चाहिए । साथ ही ईश्वर के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए ।

विवेचन :

१) व्यवहार हो या परमार्थ, दोनों में विनम्रता महत्वपूर्ण है । उसमें भी विनम्रता परमार्थ का प्राण है यह कहना अतिशयोक्ति न होगी । परंतु विनम्रता और दीनता में अंतर है । दोनों में “मुझमें कमी है” ऐसी प्रामाणिक सच्ची भावना होती है । परंतु विनम्रता में हीनता नहीं होती । वह दीनता में होती है । दीन मनुष्य लाचार होता है । ईश्वर की अनंतता का, असीमता का ज्ञान होने से अपनी नश्वरता को समझना, अपने लघुतम मूल्यांकन का अनुभव होना, यह विनम्रता का मुख्य लक्षण है ।

२) विनम्र मनुष्य अपने पुरुषार्थ का अहंकार नहीं करता । उसकी विनम्रता में कृत्रिमता का लवलेश भी नहीं होता । ईश्वर जैसे अनंत, असीम है, वैसी ही विनम्रता भी असीम हो तो ऐसा निराभिमानी व्यक्ति संतों को अतिप्रिय होता है ।

३) ईश्वर-दर्शन के लिए अपनी देह से ममत्व, प्रेम नष्ट होना चाहिए । अपने तन से दूसरों की सेवा करने से यह ममत्व त्वरित क्षीण होता है । अतः दूसरों के लिए, अच्छे कार्यों के लिए, देह से परिश्रम करना चाहिए ऐसा श्रीसमर्थजी का आग्रह है, अनुरोध है । जिस समाज में दूसरों के काम आने की प्रवृत्ति लोगों में होती है, उस समाज का हित होने में देर नहीं लगती ।

४) सगुणोपासना का यह बड़ा लाभ है कि उत्सवों तथा अन्य कारणों से जो कोई प्रभु के लिए परिश्रम करता है, उसका देह-स्वार्थ, देह-ममत्व कम होने लगता है । प्रथमतः प्रभु की सेवा सकाम हो सकती है । परंतु कुछ समय उपरांत वह क्रमशः निष्काम होती जाती है । ईश्वर के साथ साथ उसके भक्तों की भी सेवा हो जाती है और मनुष्य पुण्यात्मा बनता है ।

हरी कीर्तनं प्रीति रामीं धरावी ।
देहेबुद्धि नीरूपणीं वीसरावी ।
परद्रव्य आणीक कांता परावी ।
येदर्शी मना सांडि जीवीं करावी ॥१०३॥

ईश्वर से प्रेम बढ़ाने के लिए उसका सतत गुणानुवाद वर्णन, हरीकीर्तन करना चाहिए । उसके निर्गुण स्वरूप का आकलन करने के लिये देहेबुद्धि कम करने वाली तात्विक चर्चा करनी चाहिए, सुननी चाहिए । साथ ही परद्रव्य और परस्त्री - इनका चिंतन पूर्णतया त्याग देना चाहिए ।

विवेचन :

१) ईश्वर से प्रेम बढ़ाने के लिए उसका निरंतर सहवास प्राप्त करना यही श्रेष्ठ मार्ग है । अतः अपने इष्ट देवता का अखण्ड गुणगान करना चाहिए । उसकी लीलाओं का बखान करना चाहिए । ईश्वर का निर्गुण स्वरूप अतीन्द्रिय, अगोचर तथा ज्ञान प्रधान होता है । उसका ज्ञान-बोध होने के लिए सगुणोपासना, संतों का उपदेशश्रवण काम आता है ।

२) कीर्तन, प्रवचन के माध्यम से देह के प्रति आसक्ति समाप्त की जा सकती है । जग का निर्माता कौन, उससे क्या संबंध बनता है, ध्येय क्या होना चाहिए, क्या अच्छा और क्या बुरा, कामक्रोध इत्यादि विकार क्यों पनपते हैं, सदाचरण से ईश्वर प्राप्ति कैसे होगी, शरीर ध्येय नहीं अपितु ध्येयपूर्ति का माध्यम किस प्रकार है, चंचल इन्द्रियों को संयम में कैसे रखा जाए, आत्मा क्या है ये और ऐसे अनगिनत प्रश्नों का उत्तर हमें सत्पुरुषों के उपदेश सुनकर मिल सकता है ।

३) कामवासना और धन की लालसा ये दोनों बातें प्रभु-भक्ति में विशेष बाधा उत्पन्न करती हैं । अतः सभी संत इनसे सावधान रहने के लिए सदैव चेतावनी देते हैं । सामान्यतः सभी कहते हैं कि हम दूसरे के धन और परस्त्री के विषय में कभी सोचते ही नहीं ! परंतु यदि यह सत्य होता तो सभी अपनी गृहस्थी में खुश नजर आते ! सभी की आवश्यकताएं सीमित रहतीं ।

४) श्रीसमर्थजी कहते हैं कि दूसरे की वस्तु का चिंतन त्याग देना चाहिए क्योंकि यही अनुचित इच्छाओं को जगाता है और पाप के बीज बोता है । अपना ध्येय निश्चित कर उसकी आवश्यकतानुसार कार्य संचालन करना हमारा उत्तरदायित्व है । कर्तव्य पालन में ही हमारा कल्याण निहित है ।

क्रियेवीण नानापरी बोलिजेतें ।
परी चीत दुश्चीत तें लाजवीतें ।
मना कल्पना धीट सैराट धावे ।
तया मानवा देव कैसेनि पावे ॥१०४॥

नानापरी = अनेक प्रकार से, सैराट = मनमाना, धीट = बन्धन रहित

मनुष्य की कथनी और करनी में बहुत अंतर होता है । कई बार उसे अपने आचरण पर शर्मिंदगी उठानी पड़ती है । जो मनुष्य प्रत्यक्ष आचरण न करते हुए केवल व्यर्थ कल्पनाएं करता है, उसे ईश्वर-दर्शन होना असम्भव है ।

विवेचन :

१, २) दृश्य व्यवहार में आचरण को प्रथम स्थान है । जो खुद आचरण करता है और फिर उसके बारे में बात करता है, उसकी बातों को लोग मानते हैं, महत्व देते हैं । ईश्वर के संबंध में अर्थात् अतीन्द्रिय, अगोचर अनुभव के क्षेत्र में यही नियम सौ फीसदी काम आता है । जो मनुष्य आत्मानुभव बिना कोरी गप हांकता है, बकवास करता है, उसकी बातों से श्रोताओं का मन अप्रसन्न होता है । श्रोतागण उसके झूठ को मान भी लें तो भी उसका अपना मन कैसे धोखा खाएगा । ऐसे में उसे अपने पर ही क्रोध और लज्जा आती है ! अतः सच्चे साधक को नियम बनाना चाहिए कि उसे जितना बोध होगा, अनुभव आएगा वह उतनी ही बातें करेगा ।

३) जीवन में कल्पना आवश्यक है इसमें संदेह नहीं । परंतु कल्पना को प्रत्यक्ष घटना की, प्रसंग की नींव होनी चाहिए, आधार होना चाहिए । घटनाओं का प्रत्यक्ष अवलोकन, निरीक्षण करके फिर कल्पना से, तर्क से उसके पीछे का निसर्ग-नियम खोजना यही सच्चा कल्पना योग है । परंतु प्रत्यक्ष प्रतीति की नींव नहीं है, फिर भी व्यर्थ कल्पना करना तो भ्रम साम्राज्य में विचरण करना है । ऐसे कल्पना व्यापार से व्यवहार और परमार्थ दोनों ही साध्य नहीं होते ।

४) अधिकांश व्यक्ति ईश्वरीय सत्ता को मानते हैं, जानते हैं कि उनका शरीर और यह संसार नश्वर है, क्षणभंगुर है फिर भी स्वार्थ त्याग, सदाचरण, नीतिपूर्ण व्यवहार, संयम और पवित्र आचरण नहीं रख पाते ! ऐसे मनुष्यों का जीवन सफल नहीं होता, वे भगवान को नहीं पा सकते !

विवेके क्रिया आपुली पालटावी ।
अती आदरें शुद्ध क्रिया धरावी ।
जनीं बोलण्या सारिखें चाल बापा ।
मना कल्पना सोडि संसार तापा ॥१०५॥

मनुष्य ने अपने हित अहित का ठीक से विचार करते हुए अपने आचरण में परिवर्तन करना चाहिए । संत सज्जनों को मान्य हो ऐसा निर्मल आचरण अपनाना चाहिए । यदि कथनी करनी एक रहे और संसार के बारे में निरर्थक कल्पनाएं करना छोड़ दें तो अवश्य ही हम यह भवसागर तर जाएंगे !

विवेचन :

१, २) श्रीसमर्थ जी कहते हैं कि मानवीय जीवन में विवेक का परमोच्च महत्व है और मनुष्य निज विवेक से कर्म सुधार सकता है । विवेक से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से सामर्थ्य प्राप्त होता है । इन्द्रियगोचर दृश्य संसार में विवेक का उपयोग किया जाए तो विज्ञान की उपलब्धि होती है । यह तो अनुभव सिद्ध बात है कि विज्ञान के सामर्थ्य से परिस्थिती का चेहरा पूर्णतया बदला जा सकता है । उसी प्रकार इन्द्रियों को प्रेरणा देने वाले अदृश्य मन पर विवेक का प्रयोग करने से आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है । सभी संतों का यह अनुभव है कि आत्मज्ञान के सामर्थ्य से हम अपने व्यक्तिमत्त्व में आमूलाग्र परिवर्तन कर सकते हैं । मनुष्य अपने व्यक्तिमत्त्व में परिवर्तन कर सके इस उद्देश्य से श्रीसमर्थजी ने साहित्य का निर्माण किया है । उत्तम आचार, विचार और उच्चार से मनुष्य अपना जीवन श्रेष्ठ और उज्वल बना सकता है !

३, ४) मनुष्य अज्ञान में जीवन व्यतीत करता है । कहता कुछ है करता कुछ है ! आगे क्या होगा इसका उसे पता नहीं रहता । एक तरफ तो मनुष्य सोचता है कि अपनी इच्छानुसार सब घटनाएं घटें, और दूसरी तरफ ऐसा होगा इसका विश्वास नहीं रहता । फिर वह भविष्य के बारे में केवल कल्पना ही करता है, सोचता रहता है । वस्तुतः पतिस्थितियों की वास्तविकता इतनी शोचनीय नहीं रहती किन्तु उसकी दुखदायी कल्पना अधिक घातक सिद्ध होती है ! अतएव व्यर्थ कल्पनाओं का जाल नहीं फैलाना चाहिए । चिंतातुर मन की अवस्था में ईश्वर दर्शन असंभव है । मन से भ्रम को दूर कर शांत, निसन्देह श्रद्धाभाव से ईश्वर का स्मरण कर कर्तव्यपूर्ति करना ही इष्ट है ।

बरी स्नान संध्या करी एकनिष्ठा ।
विवेकें मना आवरी स्थान भ्रष्टा ।
दया सर्व भूतीं जया मानवाला ।
सदा प्रेमळु भक्तिभावे निवाला ॥१०६॥

मनुष्य को स्नान, पूजा आदि कर्म शास्त्रोक्त पद्धति से श्रद्धापूर्वक करने चाहिए । भ्रष्ट मार्ग पर चलने वाले अपने मन को विवेक से रोकना चाहिए । जिसके मन में सभी प्राणीमात्रों के लिए दयाभाव रहता है, जो प्रभु से सच्चा प्रेम करता है, उस मनुष्य को शांति और संतोष अवश्य प्राप्त होता है ।

विवेचन :

१) मनुष्य को शास्त्रों के अनुसार स्नान, अर्चना आदि सभी परंपरागत दैनिक विधि निष्ठा पूर्वक करने चाहिए और श्रद्धा तथा विश्वास के साथ स्नेहपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए । कालान्तर से हर एक जीवन पद्धति में अपने आप परिवर्तन होता है । परंतु मूलस्वरूप परिवर्तित न हो ऐसा अभिप्राय है । अध्यात्मप्रधान ध्येय आँखों के सामने रखते हुए परिष्कृत जीवन पद्धति में परिवर्तन करते समय मूल ध्येय नहीं भुलाना चाहिए ।

२) ईश्वर के दर्शन प्राप्त करने के लिए अंतरंग पवित्र होना चाहिए । हमारा मन बड़ा चंचल है, जहाँ नहीं जाना चाहिए वहीं पहुँच जाता है । जो सर्वदा अचिंतनीय है उसका चिंतन करता है । विवेक से उसे काबू में करके भ्रष्ट होने से बचना चाहिए । इसी में परमार्थ साधन का रहस्य समाहित है ।

३) प्रभुदर्शनपात्र बनने के लिए मनुष्य के मन में दया, क्षमा तथा शांति ये तीनों गुणों का होना आवश्यक है । ईश्वर की भक्ति से ही इन तीनों गुणों की उत्पत्ति अपेक्षित है । प्रभु - भक्ति से प्रथम अंतःकरण में सन्तोष उत्पन्न होता है, तृप्ति अनुभव होती है । तत्पश्चात् निःस्वार्थ प्रेम जागृत होता है । शुद्ध प्रेम से उत्पन्न हुई दया उतनी ही शुद्ध तथा उत्कट होती है । अतः संतों की दयाबुद्धि की श्रेणी उच्चतम होती है ।

४) दया दिखाने के लिए, परोपकार के लिए अपना कुछ त्यागना पड़ता है । कभी कष्ट भी उठाने पड़ते हैं । स्वार्थ अनदेखा करना पड़ता है । ऐसा करते समय उसी को संतोष मिलता है जो प्रभु के प्रेम में खोया हो । सिर्फ प्रभु भक्त ही अन्य प्राणीमात्रों के लिए ममता प्रदर्शित कर सकता है ।

मना कोपआरोपणा ते नसावी ।
मना बुद्धि हे साधुसंगी वसावी ।
मना नष्ट चांडाळ तो संग त्यागी ।
मना होई रे मोक्षभागीं विभागी ॥१०७॥

रे मन स्वयं में क्रोध न पैदा होने दें । बुद्धि को सत् संगति में रस लेने के लिए प्रवृत्त कर । सर्वनाश करने वाले दुष्टों का साथ छोड़ दे । और स्वयं को मोक्ष का भागीदार बना ले ।

विवेचन :

१) मन को पूर्ण शांति प्राप्त होने के लिए ईश्वर की उपासना करनी चाहिए । क्रोध का परिणाम शांति के ठीक विपरीत होता है । छः विकारों में से क्रोध, साधना के लिए सर्वाधिक घातक होता है । यह सच है कि जीवन में क्रोध उत्पन्न होने के लिए उचित कारण भी निर्मित होते हैं । परंतु इस प्रतिक्रिया की सीमा निश्चित करना नितांत आवश्यक है । अन्यथा क्षुद्र कारण से क्रोध आने पर अपनी साधना क्षीण होती है ।

२) समूचे जीवन में संगति का बहुत महत्व होता है । संगति से अनजाने ही हमारी बुद्धि पर असर होता है । सत्संगति से वह भगवत् रूप बनती है, तो असत् की संगति से वह विकृत हो जाती है । अतः मनुष्य को बलात्, हठ से सत् संगति करनी चाहिए और दुष्ट संगति से दृढ़ता से बचना चाहिए ।

३) मोह-ममता से दूर रहने की पराकाष्ठा करनी चाहिए । आसक्ति से ही बुद्धि भ्रष्ट होती है । जिस संगति में ऐसा होता है वह चांडाल सदृश है ! ऐसी संगति का रूप सुहावना हो सकता है परंतु शरीर को सुख प्रदान करने वाला सुख आलस्य को बढ़ाने वाला होता है । साथ ही अहंकार बढ़ता है, सुखलोलुपता बढ़ती है । दिन प्रतिदिन मनुष्य परावलंबी बनता जाता है । न स्वयं का हित करता है और न ही समाज का ! जीवन की शान्ति नष्ट होकर वहाँ क्रोध का साम्राज्य फैल जाता है । अतएव दुष्ट, दुर्जनों का संग त्यागने में ही भलाई है ।

४) मोक्ष को कहीं से लाना नहीं पड़ता । स्व-स्वरूप का अज्ञान मन को विषयों में उलझा देता है । सत् संगति से बुद्धि जब निर्मल तथा ईश्वरपरायण बनती है तो अज्ञान का नाश होता है और मन को मुक्ति का अनुभव होता है ।

सदा सर्वदा सज्जनाचेनि योगें ।
क्रिया पालटे भक्ति भावार्थ लागे ।
क्रियेवीण वाचाळता ते निवारी ।
तुटे वाद संवाद तो हीतकारी ॥१०८॥

रे मन, सत्पुरुषों की संगति से, सज्जनों से मन से नाता जोड़ने से हमेशा ही अपने आचरण में परिवर्तन आता है और ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान होने से उसके प्रति प्रेम निर्माण होता है । बिना कर्म के, बिना आचरण के व्यर्थ की बकबक नहीं करनी चाहिए । तत्वानुकूल चर्चा होने से जिस शास्त्रार्थ का निर्णय होता है वह परमार्थ के लिए उपकारक होता है, लाभदायक होता है ।

विवेचन :

१, २) सदाचरण यह परमार्थ की नींव है । इस संबंध में कभी भी भ्रांति नहीं होनी चाहिए । “मैं प्रभु का नाम लेता हूँ, जप करता हूँ, उसकी पूजा-अर्चना करता हूँ और व्यवहार में चाहे जैसा बर्ताव करता हूँ” इस पद्धति से आचरण करने वाले मनुष्य का परमार्थ सिद्ध नहीं हो सकता । संतसंगति से ईश्वर के अस्तित्व का सच्चा ज्ञान होता है । और फिर दूसरों से प्रेम करने की कला भी साध्य होती है ।

३, ४) तत्व का निर्णय करने के लिए शास्त्रार्थ होता है । उस समय संभाषण का प्रसन्न वातावरण होता है । ऐसे शास्त्रार्थ से मन का समाधान होता है और फिर वह सिद्धांत चित्त पर अंकित हो जाता है । परंतु जब शास्त्रार्थ केवल द्वेष बुद्धि से तथा घमंड से होने लगता है तो उससे कटुता निर्माण होती है और तत्व निर्णय दूर ही रह जाता है । ऐसे शास्त्रार्थ तो महज बुद्धि के साथ खिलवाड़ समान होते हैं । श्रीसमर्थजी के समय में साधना न करने वाले कुछ बुद्धिमान विद्वान बड़े बड़े शास्त्रार्थ करते थे और प्रतिपक्ष को हराकर अर्जित-पत्र प्राप्त करते थे । उन्हें सिर्फ दिखलावे का यश संपादन करने में ही गर्व महसूस होता था । आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है ! जिसे ईश्वर दर्शन की चाह है उसे कर्म-साधना से भिन्न शास्त्रार्थ नहीं करना चाहिए ऐसी स्पष्ट सूचना समर्थजी ने दी है । इसी से सर्वजनोपकारी प्रगति का पथ आलेकित होगा और संसार में सुख शांति फैलेगी ।

जनीं वाद वेवाद सोडूनि द्यावा ।
जनीं सूख संवाद सूखें करावा ।
जगीं तो चि तो शोक संतापहारी ।
तुटे वाद संवाद तो हीतकारी ॥१०९॥

उलटे-सीधे प्रश्नोत्तर करने वाला वाद प्रतिवाद मनुष्य को छोड़ देना चाहिए । किसी तात्विक प्रश्न के सभी पहलुओं पर बातचीत संभव हो सके ऐसी संभाषणात्मक चर्चा सुख से, मजे से करनी चाहिए । ऐसी चर्चा से बुद्धि का समाधान होता है और मन के क्लेश दूर हो जाते हैं ।

विवेचन :

१) सामाजिक जीवन के प्रवाह में भिन्न भिन्न कालखण्डों में अलग अलग समस्याएं लोगों के सामने आती हैं । उन समस्याओं के विविध पहलुओं पर विद्वान लोगों में श्रेष्ठ श्रेणी की चर्चा होती रहती है जिससे समस्या का निराकरण होता है । परंतु वस्तुनिष्ठ दृष्टि से विचार न करके सिर्फ अपना मनोवांछित उत्तर प्राप्त करने के लिए जो चर्चा होती है वह निम्न श्रेणी की समझनी चाहिए । कनिष्ठ श्रेणी की चर्चा में विभिन्न पक्षों के बीच हीन स्तर का वाद-विवाद होता है जो अन्ततः शाब्दिक वाक् युद्ध में परिणित होता है । वितंडवाद, अतिवाद, हीनवाद, दुष्टवाद, वंध्यावाद, शुष्कवाद आदि उसी के प्रकार हैं । ऐसे वाद विवाद समझदारी से टालने चाहिए ।

२) मनुष्य एक बुद्धिजीवी प्राणी है । बौद्धिक कार्य किए बिना, बौद्धिक व्यवहार किए बिना जीना उसके लिए असंभव है । बुद्धि का उचित उपयोग करने से उसे प्रपंच हो या परमार्थ हो, दोनों में बहुत लाभ होता है । जिस विषय में हमारी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, उस विषय पर अगर हम विद्वानों से संवाद करते हैं तो हमारी कल्पनाओं में, हमारे विचारों में स्पष्टता आती है और हमारी भ्रान्तियां दूर होती हैं ।

३, ४) हमारे मन में ईश्वरविषयक, संसारविषयक तथा स्वयं के संबंध में अनेक शंकाएं होती हैं । संतों के साथ सुख-संवाद करने से शंकाओं का निराकरण होता है और मनुष्य का असंतोष आप ही नष्ट होता है । ऐसा संभाषण जो वाद मिटा दे और सुखद वार्तालाप बने, संवाद कहलाता है ।

तुटे वाद संवाद त्यातें म्हणावें ।
विवेके अहंभाव यातें जिणावें ।
अहंतागुणें वाद नाना विकारी ।
तुटे वाद संवाद तो हीतकारी ॥११०॥

अहंभाव = अहंकार, जिणावें = नष्ट करना, अहंता गुणें = अभिमान के कारण, नाना विकारी = अनेक विकार उत्पन्न करने वाला

जिस चर्चा या शास्त्रार्थ में समस्या सुलझाई जाती है उस चर्चा को 'संवाद' कहते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह विवेक से अपने अहंकार का नाश करे ! घमण्ड से किए हुए वादविवाद से अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। प्रेमपूर्वक वार्तालाप से जिस चर्चा का निर्णय होता है, वह चर्चा लाभप्रद होती है।

विवेचन :

१) किसी भी विषय पर चर्चा करते समय चर्चा के अभिप्राय को अधिक महत्व देना चाहिए। चर्चा में सम्मिलित व्यक्तियों का स्थान चर्चा के सापेक्ष निम्न होता है। अतएव चर्चा में व्यक्ति निम्न होने से चर्चा का स्तर उच्च रहता है। और प्रश्न का उत्तर प्राप्त होते ही, समस्या का समाधान होते ही चर्चा अपने आप समाप्त होती है। ऐसी चर्चा सभी सम्मिलित लोगों के लिए सुखदायी होती है। उसे संवाद नाम देना सर्वथा उचित है।

२) चर्चा में सम्मिलित व्यक्तियों को प्रायः अपनी विद्वत्ता और वाक् चातुर्य का अभिमान होता है। चर्चा की ओट में सत्य का समाधान ढूँढना असंभव होता है क्योंकि प्रतिपक्ष की दुर्दशा करने की ओर ही सारा ध्यान केंद्रित रहता है। जब तक अहंकार सम्पूर्ण नष्ट नहीं होता तब तक सच्चा संवाद, सार्थक बातचीत होना असंभव है।

३) वादविवाद करते समय अनायास ही प्रतिपक्ष को नीचा दिखाने के प्रयत्न में क्रोध, द्वेष, मत्सर, अहंकार, निंदा, अवहेलना, झूठे दोषारोपण आदि सभी विकार उभर आते हैं। सभी एक दूसरे पर जमकर कीचड़ उछालते हैं। "मैं विद्वान, मैं बड़ा" यह अहंकार ही सबकी जड़ है। संवाद में सच्चा समाधान प्राप्त होता है तो वादविवाद में केवल असंतोष ही पल्ले पड़ता है।

४) भक्त को, साधक को वाद विवादों में न उलझने की सावधानी बरतनी चाहिए। विषम परिस्थिति में सुसंवाद ही उचित दिशा दिखा सकता है।

हिताकारणें बोलणें सत्य आहे ।
हिताकारणें सर्व शोधूनि पाहे ।
हिताकारणें बंड पाषांड वारी ।
तुटे वाद संवाद तो हीतकारी ॥१११॥

बंड = व्यर्थ विवाद, पाषांड = नास्तिक, वारी = निवारण करना

आत्मकल्याण के लिए जो उचित है उसी का प्रतिपादन श्रीसमर्थजी यहाँ कर रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य को विचारपूर्वक आत्महित का मार्ग निश्चित करना चाहिए। ईश्वर और धर्मविरोधी हीन नास्तिक, तुच्छ विचारों एवं उच्छृंखलता को बढ़ावा देने वाले आचार विचारों को समाप्त करना चाहिए। जिन तर्कों से समस्या का उचित हल निकले वे ही परमार्थ के लिए उपकारक तथा लाभदायक होते हैं।

विवेचन :

१) श्रीसमर्थजी बताते हैं कि समाज के कल्याण के लिए विचारप्रदर्शन आवश्यक है। इन्द्रियों को अनुभूत होने वाले दृश्य जगत की रक्षा और व्यवस्था करने वाला एक अदृश्य तथा अतीन्द्रिय तत्व है- 'आत्मा' ! आत्मा के साक्षात्कार में ही मानवीय जीवन का परम कल्याण निहित है।

२) दूसरों के कहने पर सम्पूर्ण श्रद्धा से व्यवहार करने वाले लोग कम ही होते हैं तथा अधिकारपूर्वक मार्गदर्शन करनेवाले योग्य व्यक्ति मिलना सुलभ नहीं है ! अतः मनुष्य को चाहिए कि वह स्वयं ही सहज सीधे विचारों से जीवन मूल्यों पर प्रकाश डाले। आत्मज्ञान में ही सच्चा आत्महित संग्रहित है।

३) स्वानुभूति की पार्श्वभूमि पर सोचने वाले विचारवान् व्यक्ति बहुत ही कम दिखाई देते हैं। स्वरूपहीन विचारधारा के कारण मन गलत दिशा में भटक सकता है। दोषपूर्ण विचार-प्रक्रिया से अनेक नास्तिक विचारों का उदय होता है और बुद्धिमान प्रचारक मिलने से उनका झट से प्रसार होता है। दुष्ट लोगों के सदोष विचारों के अधीन होने से मनुष्य को बचना चाहिए। आत्मकल्याण के लिए ईश्वर विरोधी विचारों का, पाखंडी मतों का खंडन करना चाहिए। समाज विरोधी तत्वों का स्वयं दमन करना चाहिए।

४) भक्त को ध्यान रखना चाहिए कि वही तर्क उन्नति के मार्ग पर ले जाएगा जो वाद समाप्त करके सन्तोषप्रद निष्कर्ष सामने रखे। सद्विचार और शान्त स्वर ही कल्याणकारी विचारधारा प्रदर्शित कर सकते हैं।

जनीं सांगतां ऐकतां जन्म गेला ।
 परी वादवेवाद तैसाचि ठेला।
 उठे संशयो वाद हा दंभधारी ।
 तुटे वाद संवाद तो हीतकारी ॥११२॥

समाज में रहते, कहते-सुनते जीवन बीत जाता है पर आपसी मतभिन्नता बनी रहती है ! घमण्डी जीवों की आशंकाएं समाप्त नहीं होतीं । सिर्फ मधुर तत्वानुकूल संभाषण ही परमार्थ के लिए हितकारी सिद्ध होता है ।

विवेचन :

१) आपस में पुनः पुनः उन्हीं पुरानी बातों पर चर्चा करते करते सारी आयु समाप्त हो जाती है पर बात आगे नहीं बढ़ पाती । सदियों पुरानी समस्याओं के निराकरण के लिए वही विवाद पुनः उठते हैं परंतु उन्हीं पुरानी शंकाओं के घेरे में पड़कर कोई भी हल सर्वमान्य नहीं हो पाता ।

२) अति प्राचीन काल से आज इक्कीसवीं सदी तक हजारों लोग विभिन्न विषयों पर अपने अपने दृढ़ मत व्यक्त करते गए फिर भी उन्हीं विषयों पर आज भी वाद प्रतिवाद चल रहे हैं । सुनने और समझने की ओर एकाग्रता न रखने वाला श्रोता हो और बताने वाला दांभिक पंडित हो तो कहना सुनना व्यर्थ है ।

३) मनुष्य के मन में संशय, आशंकाएं उत्पन्न होना अज्ञान का फल है । उसी अज्ञान का दूसरा पक्ष है संशय का निराकरण करने के लिए वाद प्रतिवाद करना ! मानवीय बुद्धि दृश्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के सक्षम होती है । परंतु जब वह दृश्य के परे अतींद्रिय में कल्पना की उड़ान भरती है तो ठोस निर्णय लेने में अक्षम रहती है । फिर अपनी बुद्धि के संस्कारों के अनुसार मन तर्क करता है । इस प्रकार अनगिनत शुष्क, व्यर्थ और नीरस तर्कवादों का प्रचार होता रहता है । मूर्ख मनुष्य अहंकार के कारण अपना पक्ष सुधारने और परिवर्तन की आवश्यकता को समझने की स्थिति में नहीं रहता ।

४) तत्वानुकूल संभाषण से जिस चर्चा का निर्णय होता है सिर्फ वही परमार्थ के लिए लाभप्रद होती है । बताने वाला सम्पूर्ण विश्वास के साथ अधिकार पूर्वक बताए और सुनने वाला एकाग्रता से सुनकर संदेह दूर होने पर कर्म प्रवृत्त हो तो ही कहना सुनना सार्थक है, कल्याणकारी है ।

जनीं हीत पंडित सांडीत गेले ।
 अहंतागुणें ब्रह्मराक्षस झाले।
 तथांहूनि वित्पन्न तो कोण आहे ।
 मना सर्व जाणीव सांडूनि राहे ॥११३॥

अहंतागुणे = दम्भ के कारण, ब्रह्मराक्षस = पिशाच्च, वित्पन्न = शास्त्रसंपन्न

बड़े, बड़े, मूर्ख जो स्वयं को विद्वान समझते हैं, सत्य को जाने बिना घमण्ड से अपना ओछा ज्ञान बिखेरते फिरते हैं परंतु आत्मकल्याण नहीं कर पाते । ऐसे पाखंडी मृत्यु के पश्चात पिशाच्च योनि को प्राप्त होते हैं । ईश्वर से अधिक श्रेष्ठ कोई नहीं । अतः हे मन अपने ज्ञान का अहंकार मत कर ।

विवेचन :

१) समाज में शब्दज्ञानी पंडित अनेक होते हैं । ये सभी सनातनी, अहंकारी और वादविवाद प्रिय होते हैं । अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन समूचे देश में करते फिरते हैं । इन पंडितों द्वारा सृजनशीलता का प्रयास शून्य के बराबर होता है ।

२) अंत समय में मनुष्य के मन में जो प्रधान वासना शेष रहती है, वही उसकी मरणोत्तर अवस्था निश्चित करती है । केवल शब्दज्ञान में लिप्त पण्डित की शास्त्रार्थ और वाद-प्रतिवाद की वासना उसका साथ अन्तकाल में भी नहीं छोड़ती । इसीलिए मृत्यु के पश्चात वह ब्रह्मराक्षस बनता है । पिशाच्च योनि में उसकी आत्मा को बहुत यातनाएं, क्लेश होते हैं इसमें सन्देह नहीं ।

३) मनुष्य कुछ बनने की कोशिश में विद्याभ्यास करता है । विद्या संपादन करने के पश्चात उस विद्या के उपयोग से कर्तव्य-कर्म तो कम, अभिमान अधिक होता है ! दूसरों को वह तुच्छ एवं हीन समझता है । वेद पुराण जिसका गुण गाते नहीं थकते उस परमपिता ईश्वर से अधिक महान, श्रेष्ठ क्या कोई हो सकता है भला ! क्षणभंगुर जीवन की अति न्यून उपलब्धि की अपने ही मुँह से प्रशंसा करना हास्यास्पद है ।

४) मृत्यु पश्चात पिशाच्च बनने वाले पण्डित क्या विद्वान कहलाने लायक हैं । अपने अहंकार के कारण वे ऐसी दयनीय अवस्था को प्राप्त होते हैं । अतः पण्डितों की इस दुरावस्था से दूर रहने के लिए हमें अपने ज्ञान का, अपनी विद्वत्ता का अहंकार छोड़ देना चाहिए । प्राप्त विद्या के उपयोग से विनयपूर्वक कर्तव्य निभाने में ही हमारा आत्महित एवं कल्याण निहित है ।

फुकाचें मुखी बोलतां काय वेचे ।
 दिसेंदिस अभ्यांतरी गर्व सांचे ।
 क्रियेवीण वाचाळता व्यर्थ आहे ।
 विचारें तुझा तूंचि शोधून पाहें ॥ ११४ ॥

ज्ञान की निरर्थक बकबक करने से पल्ले तो कुछ नहीं पड़ता । वरन् दिन ब दिन अंतःकरण में अहंकार ही बढ़ता जाता है । अगर कथनी जैसी हमारी कृति न हो तो हमारा कथन व्यर्थ है । रे मन, तुम स्वयं इस बात की सत्यता का विचार कर के देखो !

विवेचन :

१) जीवन के हर एक क्षेत्र में अनुभव का, प्रतीति का अति महत्व है । हम जो सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं, उन्हें अगर अनुभव का आधार न हो, तो ज्ञान का मूल्य प्राप्त नहीं होता । उपनिषदों व भगवत् गीता का अर्थ समझते समय यदि उसके मूल तत्वों को आचरण में नहीं ढाला गया तो उसका सच्चा सही अर्थ समझ में नहीं आता ।

२) अनुभव के अभाव में अनेक तर्क गलत साबित होते हैं । हमारे देश में वेदांत के विषयों पर निरूपण करना एक व्यवसाय समान बनने के कारण कोरे शब्दज्ञान से भारी अव्यवस्था उत्पन्न हुई । उल्टे सीधे तर्कों के आधार पर निरूपण करने वाले, वेदांत के ग्रंथों का मनमाना अर्थ प्रतिपादित करते रहे और सामान्य जन गुमराह हुए ! इस प्रक्रिया में निरूपक का अहंकार निरंतर बढ़ना उसकी अध्यात्मिक प्रगति में सर्वाधिक घातक रहा ।

३,४) विज्ञान जिस प्रकार बाह्य जगत् में बदलाव लाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान से मनुष्य के आंतरिक जीवन में बदलाव आना चाहिए । मनुष्य के आचरण में परिवर्तन, विकारों पर स्वामित्व, यही वेदांती के अंतःकरण की सच्ची पहचान है । वेदांत विचारों के अनुसार जिस प्रकार मैं अपनी देह को अपनेपन से देखता हूँ उसी प्रकार मैं ज्ञानार्जन के बाद आत्मा को अपनेपन से देखने लगता हूँ । अर्थात् देह से जुड़ी अपनी पहचान क्षीण होती जाती है । यही वेदांत का कृति में दिखाई देने का प्रमाण है । हमें स्वयं विचार करके यह निश्चित करना होगा कि क्या हम अच्छे बुरे की पहचान सिर्फ अपनी सोच तक सीमित रखेंगे या फिर उसे अपने आचरण में भी उतारेंगे !

तुटे वाद संवाद तेशें करावा ।
 विवेकें अहंभाव हा पालटावा ।
 जनीं बोलण्या सारखें आचरावें ।
 क्रिया पालटें भक्ति पंथे चि जावें ॥११५॥

जहाँ तत्त्वनिर्णय की जिज्ञासा से चर्चा होती है, वहाँ संभाषण में, बातचीत में अवश्य सम्मिलित होना चाहिए । विवेक से अपने अहंकार को त्याग कर स्वभाव में परिवर्तन लाना चाहिए । अपने जीवन में कथनी और करनी में मेल होना चाहिए । ईश्वर से विमुख करने वाली क्रियाओं को त्याग कर हमें भक्तिमार्ग पर अग्रसर होना चाहिए ।

विवेचन :

१) प्रभुदर्शन के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति का व्यक्तित्व सर्व सम्पन्न होना चाहिए । क्रिया, भावना और बुद्धि, मानव व्यक्तित्व के तीन प्रमुख अंग हैं । बुद्धि की उचित प्रगति के लिए सत्संगति में संभाषण जिससे वाद समाप्त होकर ज्ञानवर्धन हो अत्यंत उपयोगी सिद्ध होता है । इतना ही नहीं, श्री समर्थजी प्रभुभक्ति के साधनों में श्रवण को प्रथम स्थान देते हैं ।

२) बुद्धि परिपक्व होने के पश्चात् दो दिशाओं में उसकी सत्ता का अनुभव होता है । जो सत्य नहीं है उसे वह हटा देती है और जो सत्य है उसको दृढ़ता से स्वीकार करती है । अपना अहंकार सच नहीं है, झूठा है इसका विश्वास होने के पश्चात् बुद्धि उसे शेष नहीं रहने देती ! संयम हितकारी है, यह अहसास होने पर बुद्धि अपने आचरण में सम्पूर्ण बदलाव लाती है ।

३) विवेकी मनुष्य की कथनी और करनी में विसंगति नहीं होनी चाहिए । जब हम संसार में फैले अनाचार, असत्य, अन्याय, कृपणता, कृतघ्नता, आलस्य और भ्रष्टाचार की आलोचना करते हैं, निंदा करते हैं तब हमें ध्यान रखना चाहिए कि हम यह दुर्व्यवहार किसी के साथ भूल कर भी न करें !

४) अच्छा व्यवहार करने में अलग ही मिठास होती है, इसमें संदेह नहीं ! भक्ति मार्ग पर चलते चलते जो अनायास व्यवहार में परिवर्तन आता है उसमें विशेष माधुर्य है । श्रीसमर्थजी के विचार के अनुसार ईश्वर-भक्ति एक ओर से ज्ञान की जननी है तो दूसरी ओर से नैतिक आचरण की जन्मभूमि होती है । सम्पूर्ण सदाचरण और निरहंकार यही भक्ति मार्ग का प्रसाद है ।

बहू श्रापितां कष्टला अंब ऋषि ।
 तथाचे स्वये श्रीहरी जन्म सोशी ।
 दिल्ला क्षीरसिंधू तथा ऊपमानी ।
 नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी।। ११६।।

श्राप = शाप, क्षीर-सिन्धु = दूध का सागर, कष्ट = क्लेश

राजा अंबरीष को शाप के कारण बहुत अधिक दुख, क्लेश सहने पड़े । राजा को शापमुक्त करने के लिए प्रभु ने अनेक जन्म लिए । प्रभु ने अपने भक्त उपमन्यु को दूध का सागर भेंट दिया । तात्पर्य, प्रभु भक्तों की सहायता करनेवाला है । वह भक्तों की कभी उपेक्षा नहीं करता है ।

विवेचन :

१, २) महान विष्णुभक्त राजा अंबरीष ने कार्तिक एकादशी का व्रत रखा था । द्वादशी के दिन अकस्मात् दुर्वासा ऋषि भोजन के लिए पधारे । भोजनपूर्व वे स्नान के लिए नदी किनारे गए और लौटने में इतनी देर हुई कि द्वादशी का काल समाप्त होने लगा । अतः राजा ने केवल तीर्थ प्राशन करके व्रत-पारणा की परंतु दुर्वासा ऋषि क्रोधित हुए । राजा अंबरीष को दुर्वासा के शाप से मुक्त करने के लिए प्रभु ने अनेक योनि में जन्म लिए । भक्त के लिए प्रभु ने हर्ष से गर्भ के कष्ट भी सहे ।

३) उपमन्यु निर्धन ऋषि व्याघ्रपाद का जेष्ठ पुत्र था । एक बार खेलते समय अन्य ऋषि के आश्रम में उसे गाय का धारोष्ण दूध पीने को मिला । दूसरे दिन जब माता ने पानी में आटा घोलकर दूध कह उसे दिया तो उसने नहीं पिया । माँ की आँखों में आँसू आ गए । वह उसे बोली “बेटा हम गरीब हैं, हमें गाय का दूध हर रोज कहाँ से मिलेगा ? पिछले जन्म में हम लोगों ने प्रभु की भक्ति नहीं की । अतः हमें इस जन्म में निर्धनता प्राप्त हुई ।” यह सुनकर उपमन्यु ने मनःपूर्वक प्रभु की उपासना की । प्रभु ने प्रसन्न होकर उसे दूध का सागर ही उपहार में दे दिया । और दीर्घायुष्य भी प्रदान किया । पुराणों में उपमन्यु एक शिवभक्त के नाते प्रसिद्ध है ।

४) श्रीसमर्थजी कहते हैं कि जिस प्रकार माता अपने पुत्र के लिए अनेक कष्ट सहती है उसी तरह वात्सल्यमूर्ति प्रभु श्रीराम भी अपने भक्तों के लिए अनगिनत कष्ट उठाने को तत्पर रहते हैं ।

ध्रुवं लेकरुं बापुडें दैन्यवाणें ।
 कृपा भाकिता दीधली भेटि जेणें ।
 चिरंजीव तारांगणीं प्रेमखाणी ।
 नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी।। ११७।।

ध्रुव एक छोटा असहाय दुःखी बालक था । उसने नारद ऋषि के कहने पर प्रभु से कृपा याचना की । प्रभु ने उसे दर्शन दिए और उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर तारामण्डल में उसे चिरस्थायी स्थान प्रदान किया । तात्पर्य कि प्रभु भक्तों की सहायता करने वाला है । वह भक्तों की उपेक्षा नहीं करता ।

विवेचन :

१) उत्तानपाद राजा की दो रानियां थीं - सुनीति और सुरुचि । सुनीति अप्रिय थी तो सुरुचि लाइली ! सुनीति का बेटा था ध्रुव और सुरुचि का उत्तम ! एक बार ध्रुव ने राजा की गोद में बैठना चाहा तो सुरुचि ने उसे नीचे खींच लिया । सुरुचि अप्रसन्न होने के डर से राजा कुछ न बोला । रोते रोते ध्रुव अपनी मां सुनीति के पास गया तो उसने कहा कि हमने प्रभु की उपासना नहीं की इसीलिए राजा के घर जन्म लेने पर भी तुझे सुख नहीं ! तब प्रभु को हूँढने के लिए ध्रुव ने घर छोड़ दिया और वह एक वन में चला गया ।

२, ३) वन में उसे नारद जी मिले और उन्होंने उसे नाम मंत्र बताया । “ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।” ध्रुव ने अति उत्कटता से, श्रद्धा से मंत्र जपा । उसकी वृत्ति तन्मय हुई और प्रभु ने उसे दर्शन दिए । नामस्मरण में वह इतना तल्लीन था कि प्रभु उसके सामने प्रकट होने पर भी उसका ध्यान नहीं गया । फिर प्रभु ने ही वात्सल्य से उसके गाल को शंख से स्पर्श किया । तत्काल ध्रुव की प्रतिभा जागृत हुई । तब उसने प्रभु का गुणगान किया, स्तुति की । प्रभु ने प्रसन्नता और स्नेह से ध्रुव को हृदय से लगा लिया और वर मांगने को कहा । ध्रुव बोला कि आपके दर्शन से मेरी सारी मनोकामनाएं पूरी हुई । अब और मुझे कुछ नहीं चाहिए । मेरा जीवन कृतार्थ हुआ । आगे चलकर ईश्वर के कृपा प्रसाद से ध्रुव ने कई वर्षों तक राजपाट संभाला । यही नहीं आकाश के तारासमूह में उसे अटल चिरस्थायी केंद्र स्थान मिला ।

४) श्रीसमर्थजी इस तत्त्व को उजागर करना चाहते हैं कि प्रभु अपने भक्तों की कभी उपेक्षा नहीं करते । वे अपने भक्तों को धैर्य, शक्ति और आनंद प्रदान करते हैं । प्रभु की शरण में चिरस्थायी शांति का अनुभव मिलता है ।

गजेन्द्र महान् संकटी वास पाहे ।
 तथाकारणं श्रीहरी धांवताहे ।
 उडी घातली जाहला जीवदानी ।
 नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी ॥ ११८ ॥

गजेन्द्र = पांड्य देश का इंद्रद्युम्न नामक राजा जिसे शाप के प्रभाव से एक हाथी का जन्म मिला, महासंकट = प्राण संकट

जब गजेन्द्र के प्राणों पर संकट आया तो उसने आर्त होकर प्रभु को पुकारा और उनकी बात जोहने लगा । उसके लिए प्रभु दौड़े आए और मगर पर टूट पड़े । इस प्रकार 'गजेन्द्र' के प्राण बचे । तात्पर्य- ईश्वर भक्तों की सहायता करने वाला है, वह भक्तों की कभी उपेक्षा नहीं करता !

विवेचन :

१) एक बार चित्रकूट पर्वत पर एक सरोवर में गजेन्द्र अपने समूह सहित जलक्रीडा कर रहा था । उसी समय एक अति बलवान मगर ने गजेन्द्र का पैर पकड़ा और उसे पानी में खींच लिया । गजेन्द्र ने अपनी पूरी ताकत के साथ उस मगर से बहुत समय तक युद्ध किया । परंतु अंत में बलहीन होकर व्याकुल हुआ । जब उसके मित्र उसे बचाने में असमर्थ रहे तो हताश होकर उसे अकेला छोड़ कर चले गए । तब असहाय होकर गजेन्द्र आर्त स्वर में पूर्व जन्म के संस्कारों के प्रभाव से प्रभु को पुकारने लगा ।

२, ३) भगवान विष्णु ने गजेन्द्र की आर्त पुकार सुनी और गरूड़ पर आरूढ़ होकर दौड़े आए । प्रभु को देखकर गजेन्द्र ने पास ही पानी में खिला एक कमल अपनी सूँड में लिया और प्रभु को अर्पित किया । फिर सूँड प्रभु की ओर उठाकर दीन वचन बोला, "हे प्रभो, नारायण, समस्त ब्रह्माण्ड का तू स्वामी है । मैं तुझे वंदन करता हूँ, प्रणाम करता हूँ" । उसकी प्रार्थना सुनते ही प्रभु ने मगर पर सुदर्शन चक्र छोड़ दिया जिससे मगर का मुँह फट गया और गजेन्द्र का पैर छूट गया । इस प्रकार गजेन्द्र के प्राण बचे और पशुदेह से उसका उद्धार हुआ ।

४) श्रीसमर्थजी संदेश देना चाहते हैं कि कितनी भी विकट समस्या आ घेरे पर अगर हम पूर्ण श्रद्धा और विश्वास के साथ प्रभु का ध्यान करें तो वह अवश्य ही सहायता करेंगे । प्रभु के मार्गदर्शन में ही मानव का आत्मकल्याण छिपा है । प्रभु की शरण में ही सारे क्लेश नाश पाते हैं ।

अजामेळ पापी तथा अंत आला ।
 कृपाळूपणें तो जनी मुक्त केला ।
 अनाथासी आधार हा चक्रपाणी ।
 नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी ॥ ११९ ॥

पापी अजामील ने अंत समय में अपने पुत्र नारायण का नाम लिया । तो प्रभु ने अति दयालुता से उसे मुक्त किया । जिसे किसी का सहारा न हो, उसे प्रभु सहारा देता है, आधार देता है । तात्पर्य यह है कि प्रभु अपने भक्तों की सहायता करने वाला है । वह अपने भक्तों की कभी उपेक्षा नहीं करता ।

विवेचन :

१) अजामिल को विवाहबाह्य संबंधों से कुछ अनौरस संततियां हुई थीं । उनमें से आखिरी बालक का नाम था 'नारायण' । अजामिल को वह प्राणों से भी अधिक प्यारा था । वह सदैव उसका चिंतन करता था । अन्त काल में उसे अपने पुत्र नारायण का निरंतर स्मरण हो रहा था । और वह 'नारायण', 'नारायण' नाम जपने लगा ।

२) अंतकाल में पुत्र का नाम लेते लेते हो सकता है कि नाम साधर्म्य से अजामिल के मन में वाकई ईश्वर का स्मरण जागृत हुआ हो । अत्यधिक पश्चात्ताप से वह पवित्र, शुद्ध मन हो गया हो और उसकी तन्मय वृत्ति देखकर प्रभु ने उसे मुक्ति दी हो !

३) जीव अपूर्ण होने के कारण उसे किसी सहारे की आवश्यकता होती है । आधार बिना वह जी नहीं सकता । प्रभु के सिवा अन्य सभी आधार अपूर्ण ही होते हैं । उन सब को दूर हटाकर प्रभु का आवाहन करने पर और करुणा से पुकारने पर वह निश्चित सहायता करता है । जगदीश्वर के पास अनाथ बनकर जाने से वह सर्वथा अपना बन जाता है ।

४) पापकर्म के पश्चात रामनाम लेने से तुरंत किसी पापी का उद्धार नहीं होता ! परंतु जिसे अपने किए पर शर्मिन्दगी का अहसास है, जो अपना जीवन बदलने को तैयार है, जो अपने कर्मों का प्रायश्चित्त लेने को तैयार है, जो सदा के लिए रामनाम की पवित्र धारा में बहने को उत्सुक है, उसके पाप धुल जाते हैं और वह भक्ति की सीढ़ी चढ़ सकता है !

विधीकारणें जाहला मछ वेगीं ।
धरी कूर्मरूपें धरा पुष्टिभागीं ।
जना रक्षणाकारणें नीच योनि ।
नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी ॥१२०॥

विधि = ब्रह्म देव, नीच योनि = मानव व्यतिरिक्त अन्य क्षुद्र योनि

कभी ब्रह्मा के लिये प्रभु मत्स्य बने तो कभी कछुअे का रूप धारण कर पृथ्वी को अपनी पीठ का सहारा दिया । जगत् की, भक्तों की रक्षा के लिये प्रभु ने क्षुद्र योनि में भी जन्म लिया । तात्पर्य प्रभु भक्तों की कभी उपेक्षा नहीं करते ।

विवेचन :

१) ब्रह्माजी की रात शुरू हुई और वे सो गये तब विश्व का प्रलय काल निकट आ गया । उस वक्त वेदों का अपहरण करने के उद्देश्य से हयग्रीव नाम का दैत्य वहाँ पहुँचा । वह वेद चुराकर प्रलय सागर में जा छिपा । इस उथल पुथल से ब्रह्माजी जग गये और वेदों को न पाकर चिंतातुर हो प्रभु की आराधना करने लगे । उन्होंने प्रभु से वेद वापस लाने के लिये प्रार्थना की । प्रभु ने तत्काल मत्स्य रूप धारण किया और हयग्रीव दैत्य को मार डाला और वेद ब्रह्माजी को लौटा दिये । यही मत्स्यावतार है ।

२) देवों ने और दैत्यों ने मिलकर समुद्र मंथन किया । उस समय मंदार पर्वत की मथानी बनाई थी । मंथन शुरू होने के पश्चात अचानक मंदार पर्वत डूबने लगा । तब सबने मिलकर प्रभु से सहायता की याचना की । देवताओं की सहायता के लिये प्रभु ने कछुअे का रूप धारण किया और मंदार पर्वत अपनी पीठ पर उठाकर ऊपर ले आए । यही कूर्मावतार है ।

३) पृथ्वी को डुबोने के विचार से हिरण्याक्ष और अन्य दैत्य पृथ्वी को समुद्र में खींचने लगे । ऐसे संकट समय ब्रह्मा की नाक से एक विराट वराह उत्पन्न हुआ जिसने हिरण्याक्ष का वध किया और पृथ्वी को बाहर निकाला । यही वराह अवतार है । संत सज्जनों की रक्षा के लिये प्रभु ने बिना संकोच क्षुद्र योनि में प्रवेश करके भी उनकी रक्षा की है ।

४) विश्व के कल्याण एवं भक्तों की रक्षा के लिये प्रभु सदैव तत्पर रहते हैं । संकट की घड़ी में कर्तव्यपरायणता ऊँचनीच भुलाकर अग्रसर होती है ।

महाभक्त प्रल्हाद हा कष्टवीला ।
म्हणोनी तयाकारणें सिंह झाला ।
न ये ज्वाळ वीषाळ सन्नीध कोणही ।
नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी ॥१२१॥

सिंह = नृसिंह अवतार, ज्वाळ = अग्नि

प्रल्हाद महान भक्त था । उसको जब यातनाएं दी गयीं तब उसके लिए प्रभु ने नरसिंह अवतार धारण किया । नरसिंह के शरीर से प्रचण्ड ज्वालाएं निकल रही थीं । प्रल्हाद को छोड़ कर कोई पास नहीं जा सका । तात्पर्य, प्रभु भक्तों की सदैव रक्षा करता है । वह भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं करता ।

विवेचन :

१) हिरण्यकश्यपु नाम का एक बड़ा पराक्रमी दैत्य था । उसने घोर तपस्या कर के वर प्राप्त किया था कि उसे घर या बाहर, दिन या रात, मानव या पशु, अस्त्र-शस्त्र से मृत्यु नहीं आ सकेगी । उसका पुत्र प्रल्हाद जितना निरहंकारी, त्यागी, प्रभु भक्त था उतना ही हिरण्यकश्यपु भोगी तथा विलासी था । बचपन से ही प्रल्हाद को नामस्मरण की लगन थी । हिरण्यकश्यपु को यह पसंद नहीं था । बेटे के सिर चढ़ा प्रभु-प्रेम नष्ट करने के लिए हिरण्यकश्यपु ने उसे बहुत सताया, बहुत यातनाएं दीं ।

२,३) भक्त के कष्ट, यातनाएं असहनीय होते देख प्रभु ने नरसिंह अवतार धारण किया । प्रल्हाद के कहने पर कि ईश्वर सर्वव्यापी है, हिरण्यकश्यपु ने क्रोध के आवेश में खंबे पर प्रहार किया । तब ईश्वर आधे मनुष्य और आधे सिंह के रूप में प्रकट हुए । उनके मुख से प्रचण्ड ज्वालाएं निकल रही थीं । उनके समीप जाने का साहस भक्त प्रल्हाद को छोड़ कर किसी में न था । एक ओर बालक प्रल्हाद प्रभु की स्तुति कर रहा था और दूसरी ओर दैत्य हिरण्यकश्यपु का हाथ अपनी तलवार की ओर बढ रहा था । अहंकार का नशा ऐसा होता है ! ईश्वर ने दहलीज पर संध्या समय अपने नाखूनों से पेट फाड़कर उस पापी का वध किया । यही नरसिंह अवतार कहलाता है ।

४) भगवान अपने भक्तों से अति स्नेह रखते हैं । करुणानिधि भगवान अपने भक्तों के कष्ट देख नहीं सकते और उनकी रक्षा के लिए दौड़े आते हैं । भगवान अपने भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं करते ।

कृपा भाकितां जाहला वज्रपाणी ।
 तयाकारणं वामनु चक्र पाणी ।
 द्विजा कारणं भार्गव च्यापपाणी ।
 नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी ॥ १२२ ॥

वज्रपाणी = इन्द्र, भार्गव = परशुराम, च्यापपाणी = धनुर्धारी

दुखी इन्द्र की दया याचना सुनकर प्रभु वामन रूप में प्रकट हुए । द्विजों की रक्षा के लिए वही प्रभु धनुर्धारी परशुराम बने । तात्पर्य, प्रभु अपने भक्तों की सदैव रक्षा करता है । वह भक्तों की कभी उपेक्षा नहीं करता ।

विवेचन :

१, २) प्रल्हाद का पोता और विरोचन का पुत्र बलि अति पराक्रमी था । इंद्रासन की प्राप्ति की अभिलाषा से उसने सौ यज्ञ करने का प्रण किया । उनमें से निन्यानबे यज्ञ पूरे हुए । तब इंद्र बहुत डर गया । और भगवान विष्णु की शरण गया । भगवान विष्णु ने कश्यप पत्नी अदिती के गर्भ से पुत्ररूप में जन्म लिया । यही वामनावतार है । वामन ने बलि से त्रिपाद भूमि का दान माँगा । दैत्यगुरु शुक्राचार्य ने दान देने का कड़ा विरोध किया । परंतु उदार चरित बलि ने वामन के हाथ पर उदक छोड़ा । तत्काल वामन ने बड़ा विशाल रूप धारण किया और एक पैर से उसने पृथ्वी नाप ली । दूसरे पैर से आकाश को नाप लिया । और तीसरा पैर बलि के मस्तक पर रखकर उसे पाताल में भेज दिया । इस प्रकार इन्द्र का संकट टला ।

३, ४) अन्याय का प्रतिकार हर मनुष्य को अपने सामर्थ्य के अनुसार करना आवश्यक है । सत्ता से मदांध क्षत्रिय अनेक बार शांतिप्रिय ब्राह्मणों पर अत्याचार करते थे । उनको सबक सिखाने के लिए प्रभु ने जमदग्नि का पुत्र परशुराम बन अवतार लिया । जब कार्तवीर्य राजा ने जमदग्नि के आश्रम से परशुराम की अनुपस्थिति में गाय का अपहरण किया तो लौटने पर परशुराम ने कार्तवीर्य से युद्ध किया और उसे मार डाला । कार्तवीर्य के पुत्रों ने बदले की भावना से जमदग्नि को अकेले देखकर मार डाला । इस पर परशुराम ने प्रण किया कि “मैं समस्त क्षत्रियों का गर्व हरण करूँगा” । अनेक बार उन्मत्त क्षत्रियों को पराजित कर उन्होंने अपना प्रण पूरा किया । समाज कल्याण के लिए प्रभु सहायता करने को सदैव तत्पर रहते हैं ।

अहिले सतीलागि आरण्य पंथे ।
 कुढावा पुढें देव बंदी तयातें ।
 बळे सोडितां घाव घाली निशाणी ।
 नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी ॥ १२३ ॥

सती = साध्वी, कुढावा = आश्रय = रक्षा = उद्धार, घाव = वाद्य पर आघात, निशाण = युद्ध में उपयोग आने वाला एक नगाड़े जैसा वाद्य

मिथिला नगरी जाते समय रास्ते में एक वन में शिला बनी साध्वी अहिल्या का भगवान श्रीराम ने उद्धार किया । आगे चलकर रावण के कारावास से देवताओं को मुक्त किया । युद्ध का नगाड़ा बजते ही प्रभु ने अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य का दर्शन कराया । तात्पर्य, प्रभु अपने भक्तों की सदैव रक्षा करता है । वह भक्तों की कभी उपेक्षा नहीं करता ।

विवेचन :

१) गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या एक महान साध्वी पतिव्रता स्त्री थीं । इंद्र ने कपट से गौतम ऋषि का वेष धारण करके उन्हें भ्रष्ट किया था । पति के शाप के कारण वह अरण्य में शिला होकर पड़ी थी । विश्वामित्र ऋषि के साथ श्रीराम व लक्ष्मण सीता-स्वयंवर के लिए मिथिला नगरी जा रहे थे । मार्ग में विश्वामित्र ऋषि के कहने पर श्रीराम ने उस शिला को पद स्पर्श किया । प्रभु के चरण स्पर्श से अहिल्या पूर्ववत् स्त्री बनीं और उन्हें मुक्ति मिली ।

२, ३) रावण कोई सामान्य व्यक्ति नहीं था । वह तपस्वी ब्राह्मण था । उसने कठोर तपस्या कर अनेकों शक्तियां प्राप्त की थीं । विपुल धनधान्य से भरी सोने जैसी लंका का अपने सामर्थ्य के बल पर अधिपति बना था । घमण्ड में आकर अपनी शक्ति के दुरुपयोग से उसने अनेक देवताओं को अपने राज्य में बंदी बना कर रखा था । प्रभु श्रीरामचंद्रजी ने अपना ध्वज फहरा कर, नगाड़े की चोट पर धनुष्य की टंकार के साथ रावण को युद्ध के लिए ललकारा ! अपने पराक्रम के तेज से रावण को परास्त कर देवताओं को मुक्त किया ।

४) श्रीसमर्थजी यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं कि बुराई का अंत एक दिन अवश्य होता है । अन्याय की हार निश्चित है । सन्मार्ग पर चलने वाले ही मोक्ष के अधिकारी बनते हैं । भक्त को शांति और धैर्य बनाए रखना चाहिए क्योंकि प्रभु अपने भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं करते ।

तये द्रुपदीकारणों लागवेंगे ।
 त्वरें धांवतु सर्व सांडूनि मार्गें ।
 कळी लागि जाला असें बोध्य मौनी ।
 नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी॥ १२४॥

बोध्य = ज्ञानी, मौनी = मौनव्रत लिया हुआ, कळी = कलियुग

द्रौपदी की आर्त पुकार सुनकर भगवान श्रीकृष्ण अपना सब काम छोड़कर जल्दी से, उसकी रक्षा के लिए दौड़े चले आए । इस कलियुग में कुछ समय के लिए प्रभु ने मौनव्रत लिया है परंतु प्रभु अपने भक्तों की सदैव रक्षा करते हैं । वे अपने भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं करते ।

विवेचन :

१, २) धर्मराज राजा युधिष्ठिर द्यूत में हार गए और दुःशासन द्रौपदी को घसीट कर राज्यसभा में ले आया । द्रौपदी ने पहले सोचा कि उसके पति पाण्डव उसकी रक्षा करेंगे । परंतु शर्म से, लज्जा से उन्होंने अपनी गर्दन नीचे झुका ली । तब द्रौपदी ने जगत् की आशा छोड़ दी । और अति आर्तभाव से उसने भगवान् श्रीकृष्ण को पुकारा । वह करुण पुकार सुनते ही प्रभु ने अपना सब काम छोड़ दिया और जल्दी से गुप्त रूप धारण कर कौरवों की सभा में आए और द्रौपदी की लाज रखकर उसकी रक्षा की ।

३) यहाँ बोध्य शब्द का गौतम बुद्ध से संबंध नहीं है । कलियुग में 'बोध्य' यानि ज्ञानी को मौन धारण करना पड़ा है । इसका अर्थ है कि अध्यात्म मलिन हुआ है । ईश्वर के प्रति श्रद्धा, भक्ति, निष्ठा जाती रही और घमण्ड, अज्ञान दिखावा बढ़ता गया । श्रोता जब ज्ञान ग्रहण करने की बजाय बांटने लगे तो वक्ता का मौन स्वाभाविक है । प्रभु के अवतार की कल्पना पूर्णतः वैदिक है । जो वेदों को नहीं मानता है, जिसे आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार है, उसके लिए प्रभु अवतार खोखला तर्क है ।

४) वस्तुतः ईश्वर हमेशा से था, रहेगा और निसंदेह आज भी है और वह अपने भक्तों की उपेक्षा नहीं करता । सामान्य मनुष्य को यह ध्यान रखना चाहिए कि सत् कर्म करते रहें और ईश्वर से नाता बनाए रखें क्योंकि ईश्वर सत्य की मूर्ति है और अंत में सत्य की विजय सुनिश्चित है ।

अनाथां दिनाकारणों जन्मताहे ।
 कलंकी पुढे देव होणार आहे ।
 जया वर्णितां सीणली वेदवाणी ।
 नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी॥ १२५॥

असहाय एवं उपेक्षित लोगों के लिए प्रभु अवतार लेते हैं । भविष्य में आगे चलकर कल्कि रूप में प्रभु का अवतार होने वाला है । जिस असीम प्रभु का बखान करते करते वेद थक गए, उस प्रभु की शरण में जाने वालों की प्रभु सदैव रक्षा करता है । वह अपने भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं करता ।

विवेचन :

१) व्यवहारी निराश्रितता तथा दीनता प्रभु तक शुद्ध प्रार्थना रूप में नहीं पहुँचती, अतः अस्वीकृत हो जाती है । श्रद्धापूर्ण अंतःकरण जब आर्त बनता है और प्रभु के अलावा अन्य किसी का भी भरोसा किए बिना प्रभु को पुकारता है तो वह आवाज प्रभु तक पहुँचती है और वे सहायता के लिए दौड़े आते हैं ।

२) संस्कृतिपूर्ण जीवन में जिस प्रकार प्रगति का काल हजारों वर्षों में गिना जाता है वैसे ही अवनति का काल भी हजार वर्षों में गिना जाता है । कलियुग को भारतीय संस्कृति की अवनति एवं अधोगति का काल समझना चाहिए । अध्यात्म जिसका प्राण है ऐसी त्यागप्रधान भारतीय संस्कृति जब से इहलोकवादी तथा भोगप्रधान बनने लगी तब से कलियुग का प्रारंभ हुआ । इस कलियुग के आखिर में प्रभु अवतार अपेक्षित है । एक ब्रह्मचारी बटुक तलवार लेकर एक श्वेत अश्व के पीछे चल रहा है, ऐसा कल्कि अवतार का वर्णन मिलता है । यहाँ अश्व राजसत्ता दर्शाता है, बटुक धर्म का प्रतीक है और तलवार क्रान्ति का चिन्ह है । राज्यक्रान्ति तथा धर्मक्रान्ति एक साथ करा के नयी समाज रचना करनेवाला महापुरुष ही कल्कि अवतार है ।

३, ४) श्रीसमर्थजी का कहना है कि सामान्य मनुष्य के लिए गृहस्थी के पीछे परमार्थ भुलाना अवनति का द्योतक है । जिसका वर्णन करते वेद भी थक कर हार जाते हैं उस श्रेष्ठ प्रभु के आगे नतमस्तक हो सत्य की राह पर चलना ही श्रेष्ठ जीवन है । इस पवित्र राह पर अपना बलिदान देने वालों को प्रभु मोक्ष प्रदान करते हैं । प्रभु अपने भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं करते !

जनाकारणों देव लीळावतारी ।
 बहुतांपरी आदरें वेषधारी ।
 तथा नेणती ते जन पापरूपी ।
 दुरात्मे महां नष्ट चांडाळ पापी ॥१२६॥

लीळा = खेल में, पापरूपी = पापी

भक्तों के लिए प्रभु सहजता से अवतार लेकर धरती पर प्रकट होते हैं। बड़े प्रेम से वह अपने भक्तों के लिए अनेकानेक देहरूप धारण करते हैं। ऐसे प्रभु को जो नहीं पहचानते हैं, वे पातकी पुण्यहीन तथा पापी होते हैं।

विवेचन :

१,२) इस श्लोक में समर्थजी भक्त के जीवन का एक अति महत्वपूर्ण अनुभव बता रहे हैं। श्रीसमर्थजी के कथनानुसार प्रत्येक भक्त के लिए प्रभु का एक अवतार प्रधान होता है। प्रभु-दर्शन के अन्य मार्गों और भक्ति मार्ग में यही मुख्य अंतर है। अन्य मार्गों में प्रभु के धरती पर आने का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि ज्ञानी हो या योगी हो, गहरे चिंतन से, अथवा वृत्तिनिरोध से सूक्ष्म में प्रवेश कर प्रभु चरणों तक पहुँचते हैं। भक्त ऐसा नहीं कर सकता। नितांत निष्ठा से वह प्रभु का आर्त होकर आवाहन करता है, उसे पुकारता है। उस आवाहन का स्तर उच्चतम होने पर स्वयं प्रभु ही अपने स्थान से उठकर भक्तों को प्रिय देहधारी रूप लेकर उनके जीवन में प्रकट होते हैं। परिणामस्वरूप अपने घर के सदस्य जितने सच्चे प्रतीत होते हैं उतने ही सच्चे ईश्वर भी भक्तों को प्रतीत होते हैं। प्रभु के निरंतर सान्निध्य का अनुभव पाकर भक्त सोचता है- “जहाँ जहाँ जाऊँ वहाँ राम का सान्निध्य मिलता है। फिर मैं क्यों दुःख का अनुभव करूँ ? जिसकी प्राप्ति के लिए मैं दुःख सहता वह तो मेरे साथ ही है। यानि सब ओर सुख ही सुख है।” इस प्रकार प्राप्त हुए प्रभु सान्निध्य से भक्त का जीवन संतोष से परिपूर्ण होता है।

३,४) शांति एवं संतोष प्राप्त करने की सरल साध्य युक्ति सबके पास होते हुए भी लोग उसका उपयोग नहीं कर पाते। ढोंगी, नास्तिक व्यक्ति स्वयं अनाचार करते हैं साथ ही औरों से भी करवाते हैं तथा पूरी दुनिया को विनाश के कगार पर खड़ा कर देते हैं। अतएव श्रीसमर्थजी ऐसे लोगों को पापी, पामर और अधम कहते हैं।

जगीं धन्य तो रामसूखें निवाला ।
 कथा ऐकतां सर्व तल्लीन जाला ।
 देहे भावना रामबोधें उडाली ।
 मनोवासना रामरूपीं बुडाली ॥१२७॥

कथा = रामकथा, देहे भावना = अहंभाव, रामबोध = प्रभु का ज्ञान

प्रभु की दिव्य लीला कथाएं सुनते-सुनते जो उनसे तादात्म्य को प्राप्त हो जाता है और प्रभु सान्निध्य के अलौकिक आनंद से तृप्त होता है, वह साधक संसार में धन्य है। ईश्वर के ज्ञानप्रकाश से “मैं देह हूँ” ऐसा अहंभाव नष्ट हो जाता है और उसके मन की सभी वासनाएं ईश्वर-स्वरूप में विलीन हो जाती हैं। उसका मन वासनाविहीन हो जाता है।

विवेचन :

१,२) मनुष्य के मन को सुख प्राप्ति के लिए कुछ ना कुछ आलम्बन आवश्यक है। किसी वस्तु या व्यक्ति से सुख मिलने की कल्पना मात्र से मनुष्य उसके चिंतन में अनजाने ही खो जाता है। श्रीसमर्थजी कहते हैं कि मनुष्य को प्रभु को ही अपने सुख का आलम्बन बनाना चाहिए। जो प्रभु को सुख का केंद्र मानता है, वह स्वभावतः प्रभु की लीलाकथाओं में, रूप, गुण वर्णन में तल्लीन होकर आप ही संतोष और आनंद और तृप्ति पाता है।

३) ईश्वर जैसा आनंदरूप है, वैसा ही चिन्मय है। अर्थात् वह ज्ञानस्वरूप है। उसके निरंतर चिंतन से अज्ञान दूर होता है। “मैं देह हूँ” यह भावना होना अज्ञान का लक्षण है। प्रभु के अनुसंधान से वह अज्ञान नष्ट होकर बोध होता है कि यह जीवन क्षणभंगुर है, प्रभु चिरंतन सत्य है, प्रभु का कार्य करते करते उसी में विलीन होना ही मोक्ष अर्थात् चिर आनंद की प्राप्ति है।

४) “मैं अपूर्ण हूँ” ऐसा अज्ञानवश मनुष्य सोचता है। अपनी अपूर्णता दूर करने के लिए मनुष्य अनगिनत कामनाएं करता है। इसी वृत्ति को वासना कहते हैं। यदि मन को प्रभु -चरणों में समर्पित कर दिया तो वह प्रभु से तदाकार हो जाता है। अपूर्ण ने पूर्ण की चाह करते ही पूर्ण अपूर्ण को अपने में समा लेता है। फिर अपूर्ण, अपूर्ण नहीं रहता। अतः उसकी वासना शेष नहीं रहती। यही कल्याणकारी अवस्था है !

मना वासना वासुदेवी वसों दे ।
 मना कामना कामसंगीं नसो दे ।
 मना कल्पना वाउगी ते न कीजे ।
 मना सज्जना सज्जनीं वस्ति कीजे ॥१२८॥

रे सज्जन मन ! मुझे ईश्वर चाहिए, मुझे प्रभु चाहिए ऐसी वासना, ऐसी कामना रखने में कोई आपत्ति नहीं । परंतु कामवासना तृप्त करने की इच्छा मत रखो । वासना-तृप्ति के अधीन होकर व्यर्थ कल्पनाएं मत करो । रे मन, मोह से मुक्ति प्राप्त करने के लिए संतों का, सज्जनों का सत्संग करो ।

विवेचन :

१) जब तक हम अविद्या के, अज्ञान के अधीन रहते हैं तब तक हमारे मन में वासनाएं उठेंगी ही । वासना अगर उत्पन्न होनी ही है तो वह प्रभु संबंधी होनी चाहिए । वह कामेच्छातृप्ति की न हो । काँटे से काँटा जैसे निकालते हैं, उसी प्रकार प्रभु की वासना से अन्य सभी वासनाएं नष्ट करनी चाहिए । इसी प्राक्रिया में भक्ति मार्ग का मर्म मिलता है ।

२) रे मन, कामना, इच्छा, आसक्ति, विषयोपभोग के लिए मत रख ! जब तक देह है तब तक भूख लगना स्वाभाविक है पर भूख रोटी तरकारी से शांत हो जानी चाहिए । भूख अगर स्वादिष्ट मिष्ठान्न मांगती है तो वह विषयलोलुपता कहलाएगी । रे मन सावधान ! कहीं ये मान-सन्मान, धन-दौलत, नाते-रिश्ते, आराम और मनोरंजन के साधन तुझे प्रभु से विमुख न कर दें !

३) वासना मनुष्य को चैन नहीं लेने देती । वह उसकी तृप्ति के लिए कुछ ना कुछ कर्म करने के लिए बाध्य करती है, प्रवृत्त करती है । विषयकर्म करना है तो नश्वर संसार से संबंध स्थापित होता है । सांसारिक बंधनों का उपयोग करके वासना-तृप्ति की कल्पनाएं करने में मनुष्य खो जाता है । कल्पना करते करते और उन्हें मूर्तरूप देते देते मनुष्य थक जाता है, असंतुष्ट हो जाता है ।

४) असंतोष से बचने के लिए मनुष्य को सत्संग, संतों का साहचर्य पाना चाहिए । किस प्रकार अपनी वासनाओं का निवेदन प्रभु से करें और फिर किस प्रकार उन्हें उचित दिशा दिखाएं और शांति अनुभव करें, ये सबक संत ही हमें सिखा सकते हैं ।

गतीकारणें संगति सज्जनाची ।
 मति पालटे सुमति दुर्जनाची ।
 रतीनायिकेचा पती नष्ट आहे ।
 म्हणोनी मनातीत होऊनी राहें ॥ १२९ ॥

गतीकारणें = सद् गति के लिए, मनातीत = मन से परे,

संत-संगति से, मनुष्य की दुष्ट बुद्धि में परिवर्तन होकर वह शुद्ध बुद्धि बनती है । जीवन के अंत में सद्गति प्राप्ति की इच्छा हो तो संतों का संग-सत्संग करना चाहिए । कामवासना जीवन बरबाद करती है । इसीलिए मनुष्य को उसके अधीन नहीं रहना चाहिए ।

विवेचन :

१, २) उच्छृंखलता को मर्यादित रखने के लिए प्रत्येक समाज में धर्म, नीति तथा रीति-रिवाजों के बंधन होते हैं । परंतु इससे बुद्धि में ऊपरी बदलाव आता है, मूल सुधार नहीं हो पाता । दुष्टों में आमूलाग्र परिवर्तन लाने का एकमात्र उपाय है - सत्संग ! बुद्धि शुद्ध होने से विचार शुद्ध होते हैं और शुद्ध विचारवान मनुष्य अंतःकरण से पवित्र बनता है । निर्मल अंतःकरण वाले मनुष्य को ही अंत में सद्गति प्राप्त होती है ।

३) कामरोग ने समाज के भले से भले लोगों को भी भ्रष्ट किया है । देहबुद्धि की भूमिका से विचार करें तो कामवासना का भोग आनंद की एक झलक दिखाता है जिसके लिए मनुष्य अपना सारा विवेक खोकर विवश हो उठता है । यह क्षणभंगुर आनन्द ही विकार बन उसके विनाश का कारण बनता है ।

४) कामवासना का प्रकोप देहावस्था से अधिक मन की अवस्था में होता है । शरीर के उदीप्त होने पर मन की अनुपस्थिति में उपभोग में रस उत्पन्न नहीं होगा । इसके अतिरिक्त मन में अगर वासना नहीं होगी तो देह उदीप्त होगी ही नहीं ! अतः कामवासना को जीतने के लिए मन को प्रभु - प्रेम से ओतप्रोत करके उस परमानंद का उपभोग करने की कल्पना करना ही उत्तम उपाय है । देह से सुख प्राप्त करने की वृत्ति बदलने से आनंद भोगने की कल्पना बदलती है, उसमें परिवर्तन आता है । मन में उठने वाले विचारों का नियमन मन से परे हटकर करने को ही 'मनातीत होना' कहते हैं ।

मना अल्प संकल्प तो ही नसावा ।
सदा सत्य संकल्प चिन्ती वसावा ।
जनीं जल्प वीकल्प तो ही तजावा ।
रमाकांत येकांत काळीं भजावा ॥१३०॥

रे मन, जो अपूर्ण और अल्प है उसके संबंध में विचारनिश्चय मत करो । उसके विपरीत जो पूर्ण तथा उन्नत है, श्रेष्ठ है उसका मन में विचार अवश्य होना चाहिए । लोगों के बीच व्यर्थ बकवास की आदत त्याग दो । जब भी एकांत मिले, सारे संदेह मिटाकर प्रभु राम का चिंतन, भजन करो ।

विवेचन :

१, २) उपनिषदों में ब्रह्मरूप को सत्य और दृश्य जगत् को असत् एवं अल्प कहा है । जो सम्पूर्ण सत्य है, उसके बारे में हमारे मन में संकल्प विकल्प उठते हैं । श्रीसमर्थजी कहते हैं कि सच्चिदानंद ईश्वर ही सम्पूर्ण सत्य है । अतः उससे अपना मन जोड़ना चाहिए । ऐसा करने पर मन में प्रभु के ही संकल्प उठेंगे, विचार उठेंगे । स्थल कालों से बंधा हुआ जकड़ा हुआ यह दृश्य संसार नश्वर एवं अल्प सुख - दुख का मिश्रण है । उस तरफ मन आकर्षित होने पर स्वार्थ के ही संकल्प उठते हैं । हम स्वल्प तथा संकुचित बनते हैं जिससे चिरस्थायी आनंद या संतोष प्राप्त करना असंभव है ।

३) व्यर्थ बकबक करने में मनुष्य की मानसिक शक्ति बहुत खर्च होती है । व्यवहार में बात करना अनिवार्य है । पर आवश्यकता से अधिक बात न करने से व्यवहार बिगड़ेगा नहीं । उसी प्रकार विवेकपूर्ण संशय उचित होता है परंतु शंक्ति वृत्ति से निर्माण किया हुआ संदेह मन की स्थिरता के लिए हानिकारक होता है । संशयी मनुष्य को चित्त की स्थिरता प्राप्त होना असंभव है । अतः जल्प (बकबक) और विकल्प (भ्रान्ति) टालना आवश्यक है ।

४) एकांत में मन जितना एकाग्र हो सकता है उतना व्यवहारिक जगत् में नहीं हो पाता । एकाग्रता के बिना मन में ज्ञानार्जन की शक्ति नहीं बढ़ पाती है । इस कारण सभी महान पुरुष, साधु-संत जीवन का कुछ समय एकांत में अवश्य बिताते हैं । श्रीसमर्थजी का सब कुछ निराला था । इतना बड़ा लोकसंग्रह करने के पश्चात् भी उन्होंने अपना एकांत नहीं छोड़ा !

भजाया जनीं पाहतां राम येकु ।
करीं बाण येकु मुखीं शब्द येकु ।
क्रिया पाहतां उधरे सर्व लोकू ।
धरा जानकीनायकाचा विवेकु ॥१३१॥

भजाया = भक्ति करने योग्य

जगत् में भक्ति करने योग्य प्रभु श्रीराम जैसा अन्य देवता नहीं है । प्रभु राम अपने एकवचन तथा एकबाण के लिए विख्यात हैं । एक पत्नी, एक बाणी, एकवचनी श्रीराम की कथनी और करनी एक जैसी थी । उनके लीलाचरित्र का अवलोकन करने से सबका उद्धार होता है । ऐसे प्रभु श्रीराम का आदर्श प्रत्येक व्यक्ति के सामने होना चाहिए ।

विवेचन :

१) जीवन में मनुष्य हरपल किसी न किसी का अनुकरण करता है । उपास्य देवता का चरित्र तथा उसके गुणसमुच्चय का निशिदिन चिंतन उपासक के आचरण तथा व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव डालता है । मर्यादा पुरुषोत्तम प्रभु श्रीराम ने आदर्श जीवन का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए मानो लीलाचरित रचाया था ।

२) धनुष्य पर बाण चढ़ाना यानि लक्ष्यवेध होना इतनी कुशलता प्रभु राम में थी ! एक बार वचनों का उच्चार किया तो समझो कर्म हो गया । इतना निश्चय और सामर्थ्य था उनमें ! सामान्य मनुष्य 'करूँ या न करूँ' की दुविधा में कई वर्ष बिता देता है । कथनी और करनी में मेल तो दूर की बात है, स्वार्थ सिद्ध न होता देख मनुष्य तुरंत अपने कहे से मुकर जाता है ! साधक को चाहिए कि वह प्रभु राम के जीवन से प्रेरणा लेकर जीवन में नीति नियमों का स्वेच्छा से पालन करे । दूसरों के दुर्व्यवहार पर प्रश्न उठाने के बजाय स्वयं सदाचरण अपनाने में दक्ष रहे ।

३, ४) जीवन का स्तर ऊँचा उठाने के लिए विवेक से काम करने की अति आवश्यकता होती है । विवेक जागृत करने के लिए जिस प्रकार संतों का सत्संग काम आता है, वैसे ही प्रभु के लीलाचरित्र का चिंतनशील अभ्यास उपयोगी सिद्ध होता है । संतों का सान्निध्य प्राप्त होना स्थल, काल तथा परिस्थिति पर निर्भर रहता है । परंतु प्रभु चरित्र का अभ्यास करके अपना उद्धार करना प्रत्येक व्यक्ति के वश में है ।

विचारूनि बोले विवंचूनि चाले ।
 तथाचेनि संतप्त ते ही निवाले ।
 बरें शोधल्यावीण बोलों नको हो ।
 जनीं चालणे शुद्ध नेमस्त राहो ॥१३२॥

विचारूनि = पूर्णतया विचार करके, विवंचूनि = अनुकूल एवं प्रतिकूल पक्ष का विचार करके, संतप्त = दुख से पीड़ित लोग, निवाले = संतोष पाए, शोधिल्यावीण = सर्वांगीण विचार किए बिना, नेमस्त = नियमवत्

जो मनुष्य सदैव विचार करके बोलता है, जिसका आचरण विवेकपूर्ण है, उसकी संगति में सांसारिक ग्लानि से त्रस्त सभी लोगों को मनः शान्ति प्राप्त होती है । अतः मनुष्य को सर्वथा विचार करके बोलना चाहिए और अपना आचरण अति शुद्ध और अनुशासित रखना चाहिए ।

विवेचन :

१, २) मनुष्य का अंतःकरण उसकी बोलचाल एवं आचरण से प्रकट होता है । मनुष्य के रहन सहन, क्रियाकलापों में उसके विचारों की पार्श्वभूमि होती है । जो मनुष्य हर कदम सोच समझकर रखता है उसके वचनों तथा आचरण में एक सुंदर मेल दिखाई देता है । वह स्वयं स्वस्थचित रहता है और उसके संपर्क में रहने वाले लोगों को भी सुख, सन्तोष और बल मिलता है । इत्र लगे वस्त्र जैसे सभी को सुगंध देते हैं उसी प्रकार विवेकपूर्ण वचन और शुद्ध अनुशासित आचरण सभी को मनःशान्ति प्रदान करते हैं ।

३) विचार करने के उपरांत मुख से निकले शब्द आप ही हितकारी सिद्ध होते हैं अतएव अच्छे बुरे का फैसला करने के बाद ही वाणी का उपयोग करना उचित है । जिन बातों से समाज का कल्याण हो उन्हीं के लिए समय निकालना उचित है । हमें ढूँढ कर हितकारक विषय खोज निकालने हैं, जिनके ऊपर भाष्य संतोषप्रद होगा ।

४) मनुष्य को नियमबद्ध जीवन व्यतीत करना चाहिए । नित्य व्यवहार निर्मल और सदाचारी होना चाहिए । उच्च और पवित्र ध्येय सम्मुख हो तो मन में शुद्ध विचार जन्म लेंगे और तदनुसार क्रियाएं भी उचित होंगी । पूजापाठ, खानपान, रहन सहन, मनोरंजन और कर्तव्यपालन इत्यादि सभी कर्म सदैव शालीनता और सज्जनता के परिचायक बनें इसका ध्यान रहे ।

हरीभक्त वीरक्त विज्ञान रासी ।
 जेणें मानसीं स्थापिलें निश्चयासीं ।
 तथा दर्शनिं स्पर्शनिं पुण्य जोडे ।
 तथा भाषणें नष्ट संदेह मोडे ॥१३३॥

विरक्त = अनासक्त, विज्ञानरासी = अनुभवी, निश्चय = "आत्मा सत्य है"

जो प्रभु से उत्कट प्रेम करता है, वैराग्य सम्पन्न होकर प्रभु से साक्षात्कार के अनेक अनुभव जिसने प्राप्त किए हैं और जिसके अंतःकरण में आत्मज्ञान प्रस्थापित है, ऐसे व्यक्ति के दर्शन स्पर्श से पुण्य बढ़ता है । उसके भाषण सुनने से हमारे मन के दुष्ट संशय समाप्त होते हैं ।

विवेचन :

१) संत का वर्णन श्रीसमर्थजी इन दो श्लोकों में करते हैं । जिसका प्रभु पर निस्सीम अपार प्रेम होता है वही साधू है । संत का जीवन ईश्वरी अनुभवों से समृद्ध होने से अन्य वस्तुओं के प्रति उदासीन होता है । इसी उदासीनता को विरक्ति कहते हैं । संत के पास ज्ञान रूपी रत्नों के अम्बार लगे रहते हैं । यही उसका ऐश्वर्य है ।

२) इन्द्रियों की कक्षा के भीतर विचरण करने के कारण हमारा प्रभुज्ञान अपूर्ण होता है । प्रभुअस्तित्व के विचारों में निश्चयात्मकता नहीं होती । परंतु संत अंतर्मुख होकर अतींद्रिय की कक्षा में प्रवेश करते हैं । जैसे हम किसी दृश्य वस्तु को देखते हैं वैसे ही संत अदृश्य आत्मतत्त्व का अनुभव करते हैं । इसीलिए वे आत्मवस्तु के विषय में दृढ़ विश्वास रखते हैं । उनके मन में कोई अनिश्चितता नहीं पनपती ।

३) सन्तों के पास मन की अलौकिक शक्ति होती है । अतः उनके दर्शन से, स्पर्श से और श्रवण से सामान्य व्यक्ति के मन पर तत्काल प्रभाव पड़ता है । संशय एवं निराशा दूर होकर प्रसन्नता का उदय होता है । उनके संपर्क में आने से मनुष्य के विचार और कर्म शुद्ध होकर पुण्य संचय बढ़ता है ।

४) सत्संग करने से मनुष्य के मन से संशय दूर होकर उच्च विचारधारा का स्रोत खुल जाता है और वह निश्चित रूप से श्रेष्ठ जीवन आरंभ करता है । सत्पुरुषों के स्नेहवचनों से निराशा दूर होकर कर्तव्यपालन का आनंद सहज ही मिलने लगता है । सत्पुरुषों की प्रेरणा मनुष्य को उच्च ध्येयवाद की ओर आकर्षित करती है ।

नसे गर्व आंगी सदा वीतरागी ।
क्षमा शांति भोगी दया दक्ष योगी ।
नसे लोभ ना क्षोभ ना दैन्यवाणा ।
यही लक्षणीं जाणिजे योगिराणा ॥१३४॥

वीतरागी = आसक्ति रहित, क्षोभ = चित्त की अस्थिरता, गर्व = अहंकार

जो अहंकार रहित है, जो सर्वदा अनासक्त, विरागी है, जो क्षमावान है, जो शांत है और हर पल सावधान रहता है, जो मन से दयालु है, जिसे किसी वस्तु का लोभ नहीं है, जिसका मन कभी भी विचलित नहीं होता है और जो कभी दीन नहीं होता ऐसे लक्षणों का धनी योगी कहलाता है ।

विवेचन :

१) संत के मन में किसी भी प्रकार का अहंकार शेष नहीं रहता । यह सच है कि व्यवहार में वह स्वयं के संबोधन के लिए “मैं” शब्द का प्रयोग करता है परंतु उसमें देहबुद्धि की संकीर्णता तथा अज्ञान का लवलेश भी नहीं रहता । केवल एक प्रभु के सिवा अन्य कहीं भी मन से न जुड़ना यही संत का सच्चा स्थायी भाव होता है ।

२) दया, क्षमा और शांति ये तीन गुण संत के जीवन के मनोहर अलंकार स्वरूप होते हैं । संत का अंतःकरण माँ के अंतःकरण की भाँति स्नेहमय और क्षमाशील होता है । इसीलिए गृहस्थ, अज्ञानी तथा पापी लोगों का भी वहाँ निर्वाह होता है । इन्हीं गुणों के कारण संत उत्तम लोकसंग्रह कर सकता है ।

३) समाधानी वृत्ति से जीवन की ओर देखने की आदत होने से संत को कभी किसी वस्तु का लोभ उत्पन्न नहीं होता । जहाँ लोभ नहीं है वहाँ डर नहीं है, चिंता नहीं है । अतएव उसके मन को कभी क्षोभ नहीं होता । संसार की दृष्टि से भले ही वह गरीब हो परंतु हमारा स्वामी स्वयं प्रभु है, इस विचार और भावना से संत कभी भी दीन नहीं होता । उसकी देह किसी भी अवस्था में हो उसका आनंद हमेशा बना रहता है ।

४) सन्त स्वभाव से क्षमाशील, शांत, दयावान और विरक्त होता है । वह निरंतर प्रभु से तन्मय होता है । प्रभु से मन से पल भर के लिए भी दूर न होने वाला भक्त ही ‘योगीराज’ की उपाधि के लिए सर्वथा योग्य है ।

धरी रे मना संगति सज्जनांची ।
जेणें वृत्ति हे पालटे दुर्जनाची ।
बळें भाव सदबुद्धि सन्मार्ग लागे ।
महां क्रूर तो काळ विक्राळ भंगे ॥१३५॥

वृत्ति = चित्त की विशेष अवस्था

रे मन ! तुम सज्जन का, संत का संग करो । सत्संगति से दुर्जनों की, दुष्टों की मनोवृत्ति में भी परिवर्तन आता है । मनोवृत्ति में परिवर्तन आने से प्रभु के अस्तित्व में श्रद्धा उत्पन्न होती है । बुद्धि शुद्ध बनती है और मनुष्य सन्मार्ग का पथिक बन जाता है । सन्मार्गगामी बनने पर मनुष्य को महाभयंकर, क्रूर काल का भय नहीं सताता ।

विवेचन :

१) उत्तम ग्रन्थों का अध्ययन, विद्वानों का समागम और देशाटन से मनुष्य का जागृत मन सुधर जाता है परंतु उसकी वासना नहीं ! सत्संगति उसे सुधारने का उत्तम उपाय है । सदबुद्धि प्रकट होने के दो मार्ग हैं । पहला मार्ग वृत्ति निरोध का या योग का । वासना अति सूक्ष्म होती है । वह वृत्तिस्वरूप में स्थूल में प्रवेश करती है । योगाभ्यास द्वारा वासना अपने वश में करते करते वह क्षीण होकर नष्ट होती है । यह मार्ग उत्तम है परंतु इस मार्ग पर चलने वाले अधिकारी व्यक्ति बहुत ही कम मिलते हैं । दूसरा मार्ग है संतों की संगत में भक्ति विकास का । “मैं प्रभु का हूँ” इस पावन भावना से जीवन बिताते समय प्रभुस्मृति मन में स्थिर कराने की जिम्मेदारी संतों पर होती है ।

२, ३) संत अपने मन की शक्ति का उपयोग करके भक्त होने की कामना रखने वाले मनुष्य की वासना में परिवर्तन लाते हैं । संत उसके मन में प्रभु संबंधी सच्ची निष्ठा पैदा करते हैं । “मैं” जितना सच मालुम होता है उससे भी ज्यादा “प्रभु सत्य है” ऐसी श्रद्धा उदित होने पर मनुष्य के आचार-विचारों में प्रत्यक्ष नीति-धर्म प्रकट होते हैं । प्रभु को जो अच्छा लगता है, पसंद आता है उसके अनुसार ही मनुष्य का आचरण बन जाता है । और उचित प्रेरणा से मन में योग्य विचारों का चिंतन मनन प्रारंभ होता है ।

४) बिना कारण डर कैसा । जो मन से, तन से तथा वाणी से प्रभु प्रेरित आचरण करता है, ऐसे सन्मार्गी पथिक को मृत्यु का भय नहीं रहता । वह निर्भय होकर कर्तव्यपूर्ति की दिशा में आगे बढ़ता है ।

भये व्यापिले सर्व ब्रह्मांड आहे ।
 भयातीत तें संत अनंत पाहें ।
 जया पाहतां द्वैत कांहीं दिसेना ।
 भय मानसीं सर्वथा ही असेना ॥ १३६ ॥

भय = डर, व्यापना = भरना, ब्रह्मांड = विश्व, भयातीत = भय से मुक्त

यह समस्त विश्व भय से भरा है । परंतु केवल अनंत सद्वस्तु ही भय से परे है । उस सच्चिदानंद के दर्शन करने से मन में द्वैत भावना यानि दुविधा तनिक भी शेष नहीं बचती और भय का तो नामोनिशान मिट जाता है ।

विवेचन :

१) वस्तुतः सद्वस्तु या परमात्मवस्तु केवल एक ही है । उसी में यह विशाल विश्व साकार होता है । विश्व में अनेकता, विविधता दिखाई देती है । मूल आदितत्व 'सत्' एक ही है और यह सच्चिदानंद ब्रह्म असीम एवं अनंत है । विश्व में अनेकता होने के कारण हर एक वस्तु नाशवान तथा परिच्छिन्न है, मर्यादित है । जहाँ अनेक नाशवान वस्तुएं होती हैं, वहाँ एक वस्तु दूसरी को मर्यादित करती है, सीमित करती है । इसी मर्यादा से, सीमा से डर पैदा होता है । इसी कारण मूल अनंत सद्वस्तु भयरहित होने के पश्चात भी सृष्टि की नाशवान् वस्तुओं के बाजार में सब दूर डर फैला रहता है ।

२, ३) जब तक हम आसक्ति से संसार का एक हिस्सा बन कर जी रहे हैं तब तक अनेकता या द्वैत सच रहता है । परंतु अगर दृश्य को भेदकर, दृश्य को छेदकर, हम मन से सद्वस्तु तक पहुँचेंगे, उसके साथ एकरूप होंगे तो उस एकरूप अवस्था में डर कहीं नहीं बचेगा । साधू - सन्त इसी कारण भयमुक्त जीवन व्यतीत करते हैं । श्रीसमर्थजी अभी तक भक्ति की भाषा का उपयोग करके अद्वैत का प्रतिपादन कर रहे थे । अब वही अद्वैत सिद्धांत, वेदांत की भाषा का प्रयोग करके श्रीसमर्थजी प्रतिपादित कर रहे हैं ।

४) प्रत्येक वस्तु उस अनादि अनंत ईश्वर का अंश है, उसी से निर्माण होकर फिर उसी में मिल जानी है । सोते जागते सारे समय उस परम पिता परमेश्वर का ध्यान रहे, उसी की स्मृति में सारे कार्य हों तो भय के लिए मन में कोई स्थान शेष नहीं रहेगा । यही मुक्ति की परिभाषा है ।

जिवां श्रेष्ठ ते स्पष्ट सांगोनि गेले ।
 परी जीव अज्ञान तैसेचि ठेले ।
 देहे बुद्धि चे कर्म खोटे टळेना ।
 जुनें ठेवणें मीपणें आकळेना ॥ १३७ ॥

जिवां = अज्ञानी लोगों को, श्रेष्ठ = ज्ञानी, ठेले = वैसे ही रहे, खोटे कर्म = अज्ञान से होने वाला सकाम कर्म, जुनें = अनादि, ठेवणें = स्वस्वरूप

आज तक अनेक महान ज्ञानी महात्माओं ने अज्ञानी लोगों को स्पष्ट रूप से आत्मज्ञान बताया । परंतु लोगों का अज्ञान बना रहा । अज्ञान से उत्पन्न हुई वासना तृप्त करने के लिए किया हुआ सकाम कर्म छोड़ना अज्ञानी लोगों को कठिन होता है । अहंकार के कारण अज्ञानी जीव सच्चिदानंद, अनादि, अनंत, आत्मस्वरूप का किसी भी प्रकार से अनुभव नहीं कर पाते ।

विवेचन :

१, २) आत्मज्ञानी पुरुषों की संख्या अज्ञानी लोगों की संख्या से बहुत कम दिखाई देती है । ज्ञानी संत निष्काम निस्वार्थ भाव से युगों युगों से ज्ञान दान करते रहे परंतु सामान्य अज्ञानी लोगों ने उस ज्ञान का सही मोल जाना ही नहीं । अगर जाना तो भी उसकी अनुभूति पाने की चेष्टा उन्होंने नहीं की । परिणामस्वरूप बहुसंख्य लोग अज्ञानी ही रहे ।

३) ज्ञानी पुरुष बताते हैं कि देह के बिना आत्मा प्रपंच क्रीडा नहीं कर सकती और आत्मा के बिना देह जीवित रहकर कार्य नहीं कर सकती । परंतु मन की आसक्ति के झमेले में पड़कर देह पर आत्मा के गुण मढ़े जाते हैं । और "मैं देह हूँ" ऐसी भावना दृढ़ होती जाती है । देह से चाहे कितना भी सुख प्राप्त करें, फिर भी जीव की तृप्ति कभी नहीं होती और सुख प्राप्त करने का उसका प्रयास कभी समाप्त नहीं होता । इंद्रिय सुखों के पीछे भागने के कारण ही मनुष्य अनेक व्याधियां भोगता है, फिर भी वह अपनी वासनाओं पर नियंत्रण नहीं रख पाता !

४) सच्चिदानंद अनादि है, पुरातन है, कभी समाप्त न होने वाला है । परंतु हमारा अहंम् सिर्फ देह से जुड़ा होने के कारण मन में बसा शाश्वत सुख हमारे हाथ नहीं आता । हमारा सच्चा स्वरूप हमारा अपना आनंदमय आत्मस्वरूप हमारा अपना है फिर भी हम उसका अनुभव नहीं कर पाते ।

भ्रमें नाडले वित्त तें गुप्त जालें ।
जिवा जन्म दारिद्र ठाकूनि आलें ।
देहे बुद्धिचा निश्चयो ज्या टळेना ।
जुनें ठेवणें मीपणें ते कळेना ॥१३८॥

माया के विपरीत प्रभाव से हमसे हमारी ही आत्मा का धन लुप्त हुआ है । इसी कारण हम जन्मजात दरिद्री समान कंगाल बने हैं । हमारे हृदय में “मैं देह हूँ” यह भावना दृढ़ हुई है । देह से मोह का त्याग करते नहीं बनता और अहं के कारण अनादि आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं हो पाता ।

विवेचन :

१,२) ‘हमारी आत्मा आनंद का मूल स्रोत है’ इसको न जानना ही अज्ञान है । अज्ञान से भ्रम पैदा होता है । भ्रम शब्द के दो अर्थ हैं । भ्रम अर्थात् भ्रमण करना । आनंद स्वरूप आत्मा की विस्मृति होने पर जीव आनंद की खोज में इन्द्रियों से दृश्य तक और दृश्य वस्तुओं से इन्द्रियों तक निरन्तर भ्रमण करता है- यही भ्रम है । ‘विपरीत भावना’ यह भ्रम का दूसरा अर्थ है । वस्तुतः आत्मा आनंद स्वरूप द्रष्टा है । उसकी जड़ स्वरूप दृश्य से भेंट हुई । वह दृश्य के आकर्षण में ऐसी फँसी कि दृश्य जगत सुरक्षित, शाश्वत है ऐसी गलत धारणा बना बैठी । मेरा सुख दृश्य में है इसी भावना से जीव नश्वर एवं दृश्य वस्तुओं को इकट्ठा करने में पुरुषार्थ और उनके अभाव में स्वयं को दरिद्र समझने लगा ।

३) “मैं देह ही हूँ ” इस दृढ़ भावना से जीना यही देहबुद्धि का प्रधान लक्षण है । इससे “मैं कर्ता, मैं भोक्ता, मैं परतंत्र, मैं संसारी” आदि भावनाओं का उद्गम हुआ और देह से संबंधित सभी कुछ मेरा है ऐसी भावना का विकास हुआ । दृढ़ हुई देहबुद्धि से जीवन के सभी दुख पैदा हुए । और साथ ही देह को सुखी करने के अनगिनत प्रयास भी !

४) पूर्वजों ने अनुभव किया हुआ सदियों पुराना सच कि “सत् चित् आनंद कभी समाप्त न होने वाला है” मनुष्य का अहंम् नहीं मानता । आत्मानंद राम निकट होते हुए भी मनुष्य उसे नश्वर संसार में ढूँढता फिरता है और फिर फिर चोट खाकर भी कंगाल की भांति वापस हाथ फैलाता है । अपने ही सत्य स्वरूप से मुकर कर स्वयं को निरीह तुच्छ हीन बना बैठता है !

पुढें पाहतां सर्व ही कोंदलेंसे ।
अभाग्यास हें दृश्य पाषाण भासे ।
अभावें कदा पुण्य गांठीं पडेना ।
जुनें ठेवणें मीपणें ते कळेना ॥१३९॥

कोंदलेंसे = सम्पूर्णतः व्याप्त, गांठी पडेना = संचय न होना

आत्मतत्त्व से समस्त विश्व घिरा हुआ है, व्याप्त है । परंतु भाग्यहीन मनुष्य प्रभु की सगुण मूर्ति को केवल पाषाण समझता है । “प्रभु का अस्तित्व है” इस भावना के अभाव में पुण्यसंचय होता ही नहीं । देहाहंकार के कारण श्रद्धा के अभाव में अनादि आत्मस्वरूप का किसी भी तरह से अनुभव नहीं हो पाता है ।

विवेचन :

१) सोहंभाव में लीन संतों का अनुभव कहता है कि आत्मानंद दृश्य विश्व का आदितत्व है । अर्थात् सजीव - निर्जीव, सचेतन - अचेतन, सगुण - निर्गुण में एक आनंद के अलावा अन्य वस्तु नहीं है ।

२) अगर चराचर में ईश्वर व्याप्त है तो भक्त जिस पाषाण मूर्ति के रूप में ईश्वर की आराधना करते हैं उस मूर्ति में परमानंद होना ही चाहिए । परंतु वह आनंद अनुभव करने की योग्यता जिसके पास नहीं है उस अभागे को वहाँ केवल पाषाण ही दिखाई देता है ।

३) “प्रभु है” ऐसी निःसंशय बुद्धि होना यही श्रद्धा है । जहाँ श्रद्धा नहीं वहाँ पुण्य का संचय असम्भव है । ‘भग’ अर्थात् ऐश्वर्य, यश, वैराग्य और ज्ञान का गुण समुच्चय यानि भगवान ! जिसे भगवान का आश्रय प्राप्त है वह निश्चित ही भाग्यवान और जिसे नहीं वह भाग्यहीन समझना चाहिए ।

४) श्रद्धा और भावना को बुद्धि की कसौटी पर परखा नहीं जा सकता । माँ का वात्सल्य, देशभक्ति, चरित्र की शुद्धता, संगीत का आनंद तराजू में तौला नहीं जा सकता । पदार्थविज्ञान के नियमों से हटकर समाजशास्त्र, मानसशास्त्र के नियम होते हैं । सच्चिदानंद परमात्मा को पाने के लिए बुद्धि से कहीं अधिक भक्ति की आवश्यकता है, यह पूर्वजों ने अति प्राचीन काल में ही स्पष्ट कर दिया था । मनुष्य का अहंकार उसे विनम्र होने से रोकता है और इसी कारण वह श्रेष्ठ आनंद के अनुभव से वंचित रह जाता है ।

जयाचें तथा चूकलें प्राप्त नाही ।
गुणें गोविलें जाहलें दुख देहीं ।
गुणावेगळी वृत्ति ते ही वळेना ।
जुनें ठेवणें मीपणें आकळेना ॥१४०॥

चुकणें = खोना = प्राप्त न होना, गोविलें = बंधा हुआ = अटका हुआ,
गुणें = त्रिगुणों से (सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से)

आत्मस्वरूप पर अपनी अपनी सत्ता है, अपना अपना स्वामित्व है । परंतु वह खो गया है इस भावना से वह स्वयं के पास होने का अनुभव नहीं होता । त्रिगुणों में फँस जाने के कारण जीव को देह दुख भोगना पड़ता है । अस्तु, उसकी वृत्ति गुणों की सीमा से, त्रिगुणों की कक्षा से बाहर निकलती ही नहीं ! अर्थात् देह के अहंकार के कारण अनादि आत्मस्वरूप का किसी भी तरह अनुभव प्राप्त नहीं होता ।

विवेचन :

१, २) जिस आनंद पर हमारा अबाधित अधिकार है वही हमारी अपनी गलती से हमसे छिन गया है । सजीव प्राणीयों के जन्म के समय निर्मल, स्वतंत्र रहने वाली चेतना या चित्कला अर्थात् 'आत्मा' उमर बढ़ते त्रिगुणों से देह के साथ बंध जाती है । प्रतिबिम्ब रूप में देह में स्थित आत्मा स्वयं को मर्यादित जीव समझती है । इसीलिए उसे देह के सुख दुख भोगने पड़ते हैं ।

३) सत्व, रज तथा तम इन तीन गुणों से प्रकृति बनती है । प्रकृति शक्ति रूप होने के कारण निरंतर गतिमान रहती है । वह वृत्ति रूप से हमारे अनुभव-कक्ष में प्रवेश करती है और हम उससे एकरूप होकर उसी के साथ बहने लगते हैं । "मैं देह नहीं" ऐसा विचार न रखने के कारण हम पर सदा त्रिगुणों की सत्ता छापी रहती है ।

४) अगर हम "मैं देह नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, मैं वृत्ति नहीं हूँ" ऐसा निरंतर दृढ़ स्मरण रखकर अपने स्वभाव को परखने का प्रयत्न करें तो देह में रह कर भी हम देह को अलिप्तता से देख सकते हैं । इसके लिए सूक्ष्म देह यानि स्वप्रतिमा को अपने वश में करना पड़ेगा क्योंकि स्थूल देह का ज्ञान सूक्ष्म देह के चलन पर निर्भर रहता है । अतः त्रिगुणों के चंगुल से छूटने के लिए सूक्ष्म देह पर अधिकार - स्वामित्व स्थापन करना आवश्यक है । इस कला को आत्मसात करना गर्व और अहंकार के त्याग के बिना संभव नहीं !

म्हणे दास सायास त्याचे करावे ।
जनीं जाणता पाय त्याचे धरावे ।
गुरू अंजनेवीण तें आकळेना ।
जुनें ठेवणें मीपणें ते कळेना ॥१४१॥

दास = श्रीसमर्थजी, सायास = सेवा, जाणता = ज्ञानी

श्रीसमर्थजी कहते हैं कि आत्मज्ञानी साधु ढूँढ कर उसकी शरण में जाना चाहिए और नम्रतापूर्वक उसकी सेवा करनी चाहिए । अपना आत्मस्वरूप जानने के लिए, ईश्वर की प्राप्ति के लिये सद्गुरु हमें दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं । परंतु अहंकार भुलाए बिना कितना भी कुछ करें आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं होता ।

विवेचन :

१, २) सत्य का ज्ञान चैतन्यमय होता है । जिसके अंतःकरण में वह जागृत है, उस स्वानुभवी के शब्दों को मनःपूर्वक ग्रहण करने से ज्ञान तत्काल अल्प प्रयत्नों से आत्मसात् होता है । ज्ञानी का मुक्त सहवास प्राप्त होना बहुत ही भाग्य की बात है । समाज में हर एक पीढ़ी में ज्ञानी महात्मा होते रहे हैं । उन्हें ढूँढकर उनके सान्निध्य में रहना चाहिए, ऐसा श्रीसमर्थजी का आग्रह है ।

३) दृश्य जगत् की खोज करने वाले विज्ञान में भी संशोधन के कुछ विशिष्ट गुण होते हैं, कुछ मर्म होते हैं । उन्हें सीखने के लिए अनुभवी वैज्ञानिकों के सान्निध्य में रहना आवश्यक है । उस तुलना में आत्मस्वरूप की खोज अधिक सूक्ष्म होती है । उसमें हमारे मन में स्थित वृत्तिमय संसार का अध्ययन करना पड़ता है । उसका संशोधन करना अधिक कठिन है । उस संशोधन की विशेषताएं, उसका मर्म संत - सद्गुरु के अतिरिक्त कोई नहीं दिखा सकता है, कोई नहीं समझ सकता है । इन वृत्तियों के विशाल विस्तार के परे स्थित आत्मस्वरूप को निरंतर देखने की नई दृष्टि देना सद्गुरु का कार्य होता है ।

४) श्रेष्ठ कृष्णभक्त अर्जुन को भी मार्गदर्शन की आवश्यकता पड़ी थी और पूर्णरूप से भगवान की शरणागति के पश्चात् ही वे सही गलत का ज्ञान पाए थे ! फिर सामान्य मनुष्य के लिए तो उचित मार्गदर्शन पग पग पर नितान्त आवश्यक है । बुद्धि का उपयोग अवश्यंभावी है परंतु उसकी दिशा ईश्वर के प्रति श्रद्धा भाव रखने और अहंकार रहित भाव से सद्ग्रंथों का अध्ययन करने, संतवाणी की महिमा समझने की ओर होना अति आवश्यक है ।

कळेना कळेना कळेना ढळेना ।
ढळे नाढळे संशयो ही ढळेना ।
गळेना गळेना अहंता गळेना ।
बळें आकळेना मिळेना मिळेना ॥१४२॥

ढळेना = बने रहना, गळेना = ना ढलना = नष्ट ना होना, बळें = बलपूर्वक

मनुष्य चाहे जितना यत्न कर ले तो भी जब तक उसके मन का संशय दूर नहीं होता, उसे किसी भी प्रकार से परमात्म वस्तु के सत्य का आकलन नहीं होता। बहुत प्रयत्न करने पर भी मनुष्य का अहंकार नष्ट नहीं होता और आत्मवस्तु - परब्रह्म बलपूर्वक छीनकर प्राप्त करना असम्भव है।

विवेचन :

१, २) श्रद्धा और संदेह एक दूसरे के विपरीत हैं। श्रद्धा से सद्बस्तु यानि परब्रह्म का ज्ञान होता है तो सन्देह से सद्बस्तु हमसे दूर होती जाती है। संदेह उत्पन्न होना यह एक विशिष्ट अहंकारी मनोरचना का स्वभाव है। जब तक वह मनोरचना स्थिर है, तब तक सन्देह उभरता ही रहेगा। मनोरचना में परिवर्तन करके संशय नष्ट होने पर सद्बस्तु, परब्रह्म का ज्ञान तत्काल स्पष्ट हो जाता है।

३) “मैं ज्ञानी हूँ, मैं कर्ता हूँ” यह अहं की भावना जीव को परिमित बनाती है जिससे उसका विकास नहीं हो पाता। परमात्म वस्तु अनंत है अतएव जीव परिमितता में रहकर अनंत को पाने का कितना भी यत्न करे सफल नहीं हो पाता। जब तक मनुष्य को अपनी निर्णय क्षमता, बुद्धि, विद्वता, चतुराई का घमण्ड है, उसकी सफलता अनिश्चित है। सत्य का ज्ञान होने के लिए बुद्धि को भावनाओं का, तर्क को संत वचनों का, विवेक को विश्वास का और निश्चय को श्रद्धा का सहारा आवश्यक है।

४) “मैं परमात्म वस्तु, सत् प्राप्त कर लूँगा” इस देह बुद्धि की भूमिका पर अधिष्ठित विचार के सहारे आत्मदर्शन होना असम्भव है। देहबुद्धि और अहं इन दोनों को सद्गुरु के चरणों में समर्पित करने पर ही आत्मदर्शन का मार्ग खुल सकता है। संपूर्ण शरणागति ही प्रभु प्राप्ति का रहस्य है।

अविद्या गुणें मानवा ऊमजेना ।
भ्रमें चूकलें हीत तें आकळेना ।
परीक्षेविणें बांधलें दृढ नाणें ।
परी सत्य मिथ्या असें कोण जाणें॥ १४३॥

अविद्यागुणें = अज्ञान के कारण, उमजेना = भ्रमित होना, नाणें = सिक्का, चूकलें = अयोग्य मार्ग से जाना, परीक्षेविणें = परख के बिना

अविद्या के प्रभाव से सत्य क्या है यह मनुष्य की समझ में नहीं आता। परिणामस्वरूप वह आत्महित से वंचित रहता है। मनुष्य बिना परखे ही सिक्के को सोने का समझ कर कमर में बाँध लेता है। वह सिक्का खरा है या खोटा है यह किसे पता !

विवेचन :

१, २) मानवीय जीवन में अज्ञान की सत्ता रहती है, यह अनुभव सिद्ध बात है। वस्तु का यथार्थ ज्ञान न होना यह अज्ञान का स्वरूप है। जिन वस्तुओं में जो गुण नहीं है, वे गुण उन वस्तुओं में मनुष्य को दिखाई देते हैं। इस समझ को ही, इस विपरीत भावना को ही भ्रम कहते हैं। भ्रम के कारण विपरीत बुद्धि से वस्तुओं को जो मूल्य, जो योग्यता नहीं देनी चाहिए वह उन्हें प्रदान की जाती है। मनुष्य फिर फिर यही भूल करता है। इसी भूल से वह अपना वास्तविक हित प्राप्त करने में असफल हो जाता है।

३) किसी मनुष्य को एक सिक्का मिला। उसे परखे बिना ही उसने उसे जेब में रख दिया या अपनी टेंट में बाँध दिया। मेरे पास सोने का सिक्का है यह भावना मन में थी। बाजार में पता चला कि वह नकली है। उस समय जाना कि वह धोखा खा गया। अज्ञानवश मानवीय जीवन में ऐसा ही होता है। जिन वस्तुओं से आत्महित नहीं होता, अनहित होता है, ऐसी वस्तुएं मनुष्य इकट्ठा करता जाता है और अन्त में धोखा खाता है।

४) इंद्रियों की अनुकूल प्रतिकूल संवेदना क्षणिक होती है, वे हित अहित का मापदण्ड नहीं बन सकतीं ! मिट्टी में दबा हीरा पत्थर मालुम होता है तो रंगीन कांच का टुकड़ा हीरा प्रतीत होता है। ऊँचे पकवान, व्यसन, मनोरंजन तथा आराम के विविध साधन इसी प्रकार मनुष्य को गुमराह करते हैं !

जगीं पाहतां साच तें काय आहे ।
अती आदरें सत्य शोधूनि पाहें ।
पुढें पाहतां पाहतां देव जोडे ।
भ्रमं भ्रान्ति अज्ञान हें सर्व मोडे ॥१४४॥

जग में सत्य क्या है इसका चिंतन करना चाहिए । मनः पूर्वक अन्तिम सत्य की, प्रभु की खोज करनी चाहिए । इस प्रकार खोज करते करते एक दिन अवश्य ईश्वर के दर्शन होंगे । फिर अज्ञान, भ्रम, विकल्प सब नष्ट हो जाएंगे ।

विवेचन :

१,२) यह सत्य है कि मनुष्य अज्ञानी है परंतु “मैं अज्ञानी हूँ” यह अहसास उसे रहता है । इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को अपने अज्ञान का ज्ञान रहता है । इस ज्ञान वृत्ति के बल से मनुष्य अज्ञान का मूल ढूँढ सकता है । संसार की रचना में सत्य और माया का मिश्रण दिखाई देता है । समर्थजी का कहना है कि मनुष्य जो सत्य असत्य का विचार करता है, वह अस्थायी न हो, व्यवहार तक ही सीमित न हो । अपने जीवन क्षेत्र को लांघकर उसका क्षेत्र बढ़ाते बढ़ाते समस्त विश्व को व्यापना चाहिए । प्रभु कार्य की महानता को ध्यान में रख कर प्रयत्नों की पराकाष्ठा करनी चाहिए ।

३,४) व्यवहार में किसी प्रसंग से संबंधित सत्य ढूँढने से तात्कालिक समाधान प्राप्त होता है । परंतु अपने साथ समस्त जीवन के तथा समस्त विश्व के सत्य की खोज करते करते अन्त में प्रभु - दर्शन अवश्य होता है । पानी के ऊपर जमी हुई काई हटाने पर नीचे का निर्मल जल जिस प्रकार दमकता है, आनंद देता है, अथवा हीरे पर जमी हुई धूल पोंछने पर उसकी आभा जिस प्रकार दमकती है, उसी प्रकार विवेक से झूठ का या दृश्य का आवरण दूर हटाने पर सच्चिदानंद स्वरूप सद्वस्तु स्वयंप्रकाश से प्रकट होती है । यही परमात्मा का, प्रभु का दर्शन समझना चाहिए । परमात्म वस्तु सत्य, ज्ञानमय और अनंत, असीम होने से वह प्रकट होने पर अज्ञान तथा भ्रम का भ्रान्तिरूप घेरा अपने आप विलुप्त होता है । ज्ञान के अभाव में अज्ञान सत्यसमान प्रतीत होता है परंतु ज्ञान की उपस्थिति में अज्ञान टिक भी नहीं सकता ।

सदा वीषयो चिंतितां जीव जाला ।
अहंभाव अज्ञान जन्मासि आला ।
विवेकें सदा सस्वरूपी भरावें ।
जिवा ऊगमीं जन्म नाहीं स्वभावें ॥१४५॥

अनात्म वस्तु का निरंतर चिंतन करने से मिथ्याजीवत्व प्राप्त होता है । जीवन भर शरीर के साथ अज्ञान तथा अहंकार का भी पालन पोषण होता है । मनुष्य को चाहिए कि विवेक से अपनेआप को सदैव आत्मस्वरूप में लीन रखे । निराकार ब्रह्म ही जीव का मूल स्थान है । वहाँ न जन्म है, न ही मृत्यु !

विवेचन :

१,२) सामान्य मनुष्य अज्ञान तथा अहंकार का बीज लेकर ही जन्म लेता है । यह बीज पनपते ही देह का अहंकार अज्ञान की पार्श्वभूमि पर नश्वर विषयों के पीछे भागता है । वस्तुतः आत्मवस्तु आनंद का उद्गम स्थान है । किन्तु गलत धारणा से जीव विषयोपभोग में फंस कर पराधीन बनता है । उपभोग के लिए जीव को अपनी तथा दूसरों की देह, वस्तुओं, इन्द्रियों, स्थल, काल और कई अन्य परिस्थितियों पर निर्भर रहना पड़ता है । इसी परावलंबन और पराधीनता के कारण जीव कुण्ठा का शिकार हो जाता है ।

३,४) अज्ञान बुद्धि में वास करता है । वह बुद्धि देहबुद्धि होने के कारण अति संकुचित, संकीर्ण होती है । संकीर्णता से दूर हटे बिना ब्रह्मदर्शन असंभव है । ब्रह्म अर्थात् जो सबसे बृहद या बड़ा है । देश काल वस्तुओं के परे स्थित परमात्मस्वरूप ब्रह्म है । स्वस्वरूप तथा ब्रह्म एक ही है । बुद्धि की संकीर्णता दूर करने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है । इस अभ्यास के दो अंग हैं । विवेक से दृश्य वस्तुओं से, संसार से मन हटाना यह प्रथम अंग है, तो स्वस्वरूप का, आत्मस्वरूप का निरंतर चिंतन करना द्वितीय अंग है । इस अभ्यास का फल है वैराग्य । वैराग्य से मन अति सूक्ष्म बनता है । जितना अधिक मन सूक्ष्म बनता है उतना अधिक वह स्व-स्वरूप का उत्कट चिंतन कर सकता है । अंत में वह स्वस्वरूप में विलीन हो जाता है । मन ब्रह्म में विलीन होने पर जीव का अस्तित्व शेष नहीं रहता । वह आनंद रूप हो जाता है । उस अवस्था में जीव का जन्म-मरण से संबंध ही क्या !

दिसे लोचनीं तें नसे कल्पकोडी ।
 अकस्मात् आकारलें काळ मोडी ।
 पुढें सर्व जाईल कांहीं न राहे ।
 मना संत आनंत शोधूनि पाहें ॥१४६॥

लोचनीं = आंखों से दिखने वाला, कल्पकोडी = अनंत काल तक,

आकारले = दृश्य साकार होना, काळ = काल, संत = शाश्वत सद्वस्तु

इंद्रियों को प्रतीत होने वाला दृश्य जगत् अनंत काल तक टिकने वाला नहीं है । सभी साकार वस्तुएं देखते-देखते ही काल नष्ट कर देता है । इतना ही नहीं प्रलय के समय यह दृश्य विश्व संपूर्ण नष्ट होने वाला है । तब कुछ भी शेष नहीं बचेगा । अतः रे मन, सदा अनंत, शाश्वत सद्वस्तु की खोज कर !

विवेचन :

१) जगत् सत् तथा असत्, आत्मा तथा अनात्मा, ब्रह्म और माया का मिश्रण है । शाश्वत सत्य कभी नहीं मिटता । उसका न आदि है न अन्त है । वह सर्व व्यापक है । स्थल काल की सीमा से परे है । परंतु नश्वर संसार की माया का एक न एक दिन विनाश पाना निश्चित है । माया का अस्तित्व क्षणभंगुर है, तात्कालिक है ।

२, ३) पंचभूतों से साकार हुए दृश्य को फिर से पंचभूतों में विलीन करने वाली शक्ति को काल कहते हैं । काल के प्रभाव से जो आज है वह कल नहीं रहता और जो आज नहीं है वह कल अचानक सामने आ सकता है । जो आज सत्य प्रतीत होता है, कुछ समयोपरांत उसका अस्तित्व कहीं नजर नहीं आता । काल के प्रवाह में उसकी स्मृति भी धुल जाती है । एक समय ऐसा आएगा कि समस्त दृश्य संसार ही काल के गाल में समा जाएगा ।

४) विश्व रहे या न रहे, सद्वस्तु यानि अनंत परमात्म वस्तु तो जैसी है वैसी ही रहती है । मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन में शाश्वत तत्व की खोज करे क्योंकि उसी खोज तथा उसकी अनुभूति में शांति, समाधान एवं पूर्णत्व प्राप्त होता है । उसे चाहिए कि वह अपनी सर्व भावनाओं, क्रियाओं, ध्येय तथा नीति-मूल्यों में उस शाश्वत तत्व के स्मरण को प्रस्थापित करे ।

फुटेना तुटेना चळेना ढळेना ।
 सदा संचले मीपणें तें कळेना ।
 तथा एकरूपासि दूजें न साहे ।
 मना संत आनंत शोधूनि पाहें ॥१४७॥

चळेना = जो अचल है, संचले = सर्व व्याप्त रहने वाला, दूजे = अन्य

आत्मा टूटती नहीं है, फूटती नहीं है, गलती नहीं है, बदलती नहीं है । वह निरंतर सब जगह व्याप्त है यही सच है । परंतु अहंभाव के कारण उसका अस्तित्व मालूम नहीं पड़ता । वह सबसे भिन्न होने के कारण उसकी कोई उपमा नहीं । रे मन ! उस अनंत परमात्मा को खोज !

विवेचन :

१) टूटना, फूटना, गलना, बदलना ये तो आकार प्राप्त वस्तुओं के विभिन्न गुणधर्म हैं । पंचमहाभूतों से वस्तु निर्मित होती है । आत्मा या सद्वस्तु पंचमहाभूतों से परे होती है । अतः उसे दृश्य के कोई भी गुणधर्म - जैसे रंग, रूप, भार, घट, बढ़, हलचल आदि स्पर्श नहीं कर सकते । वह सद्वस्तु अतींद्रिय, अगोचर तथा अव्यक्त है ।

२) पंचभूतों में से सबसे सूक्ष्म जो आकाश वह सब जगह व्याप्त रहता है । फिर आकाश से भी सूक्ष्म सद्वस्तु सबको व्याप्त, परिपूरित करती है उसमें कोई आश्चर्य नहीं ! उसका अनुभव करने के लिए हमें अपनी परिच्छिन्नता दूर रखकर, अर्थात् अपना अहं मिटाकर उसके साथ संबंध जोड़ना चाहिए ।

३, ४) सद्वस्तु का एक प्रमुख गुण यह है कि उसके अलावा कोई अन्य ऐसी वस्तु नहीं है, जिसकी उसे उपमा दी जा सके । जो विद्यमान रूप में अनुभव होता है, वह सब सद्वस्तु से ही निर्मित है, उसी में जीवित रहता है और अंत में उसी में नष्ट होता है । मानवीय दृष्टि के सामने यह प्रश्न खड़ा होता है कि चैतन्यता से प्रज्वलित सद्वस्तु से इस पंचभूतात्मक जड़ जगत् का कैसे निर्माण हुआ ? हम जिसे अचेतन जड़ समझते हैं उसमें भी चैतन्य का वास रहता है । उसे पहचानने के लिए आवश्यक सूक्ष्म ज्ञानदृष्टि के अभाव में हम उस चैतन्य का विलास, उसकी क्रीड़ा नहीं देख सकते । उस असीम अनंत सद्वस्तु की खोज करने के लिए हमें सूक्ष्म ज्ञानदृष्टि प्राप्त करनी होगी ।

निराकार आधार ब्रह्मादिकांचा ।
जया सांगता सीणली वेदवाचा ।
विवेकें तदाकार होऊनि राहें ।
मना संत आनंत शोधूनि पाहें ॥ १४८ ॥

अनंत सद्बस्तु आकार रहित होने पर भी ब्रह्मादि देवों का आधार, आश्रय है । उसका बखान करते करते वेद भी थक गए । मनुष्य को चाहिए कि विवेक से अपने आप को उस सद्बस्तु के साथ एकरूप कर ले । रे मन ! उस अनन्त परब्रह्म को, सद्बस्तु को खोजने में ही धन्यता है ।

विवेचन :

१) दृश्य विश्व की रचना नामरूपात्मक है । नाम सामान्य, आकार रहित तो रूप विशेष, स्थलकाल की मर्यादा में विचरण करने वाला साकार होता है । परंतु निराकार नाम, रूप नष्ट होने के पश्चात भी स्थलकाल की मर्यादा को पीछे छोड़ के शेष रहता है । समस्त विश्व को व्याप्त करके शेष रहनेवाला, ईश तत्व अर्थात् परमात्मा निराकार होता है और हर नामरूप में प्रकट होता है इसमें आश्चर्य नहीं ! सबमें व्याप्त ईश तत्व ब्रह्मादि देवों का अधिष्ठान है, आश्रय है । सभी देव वहाँ से प्रकट होते हैं, और अंत में वहीं विलीन हो जाते हैं ।

२) मनुष्य सगुण का वर्णन कर सकता है । निर्गुण निराकार की कल्पना तर्क या अनुमान से नहीं कर सकते । उसका वर्णन करना ही है तो नेति-नेति, वह ऐसा नहीं, वह वैसा नहीं, ऐसी नकारात्मक पद्धति से करना पड़ता है ।

३) पते की बात यह है कि जिस आत्मा का वर्णन वाणी से करना असम्भव है, वही आत्मा अन्तर्बाह्य सब दूर व्याप्त है । अतः विवेक की सहायता से अनात्म को दूर हटा कर हम परब्रह्म से एकरूप, तदाकार हो सकते हैं । यही हमारा ध्येय होना चाहिए ऐसा श्रीसमर्थजी का संदेश है ।

४) अच्छी नींद का आनंद लेना है तो आरोग्य शास्त्र के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते ! सच्चिदानंद की प्राप्ति करनी है तो विकृत संस्कारों के अधीन नहीं बंध सकते ! अपने जीवन में, स्वभाव में, विचारों में, आदतों में परिवर्तन लाना होगा । देह का अस्तित्व क्षणभंगुर है यह जानकर, स्वीकार कर, अपने अहं को मिटा कर सत्यानंद को, परब्रह्म को खोजना होगा !

जगीं पाहतां चर्मचक्षीं न लक्षे ।
जगीं पाहतां ज्ञानचक्षीं न रक्षे ।
जगीं पाहतां पाहणें जात आहे ।
मना संत आनंत शोधूनि पाहें ॥ १४९ ॥

चर्मचक्षु = देह से जुड़े नेत्र, ज्ञानचक्षी = ज्ञान रूपी नेत्रों से

सद्बस्तु - परब्रह्म चर्मचक्षु से दिखाई नहीं देता परंतु संत संसार की जड़ चेतन सभी वस्तुओं में परब्रह्म को अपने ज्ञानचक्षु से देख सकते हैं ! संत अपने अनुभवों से बताते हैं कि ज्ञान दृष्टि से देखना कुछ ऐसा विलक्षण है कि देखने जाओ तो देखना ही लुप्त हो जाता है । यानि मनुष्य सद्बस्तु से तदाकार हो जाता है । अतः रे मन ! उस अनन्त परब्रह्म की खोज करो !

विवेचन :

१) परमात्म वस्तु सभी जगह व्याप्त है । परंतु हमारी इन्द्रियों को उसका अनुभव नहीं होता । क्योंकि पंचभूतात्मक देह से निर्मित हुई ज्ञानेन्द्रियां पंचभूतों का ही आकलन कर सकती हैं । परमात्मा, परब्रह्म तो सूक्ष्मों का राजा है । अतः इन्द्रियों को वहाँ तक प्रवेश नहीं मिलता । इन्द्रियों द्वारा विज्ञान में बढ़ोत्तरी होगी, विज्ञान उन्नत हो सकेगा परंतु आत्मज्ञान इंद्रियों के माध्यम से प्राप्त न हो सकेगा !

२) उपनिषदों में ऋषि कहते हैं कि आत्मदर्शन की प्राप्ति के लिए एकाग्र तथा सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता होती है । ज्ञान साधनों में अनुमान बुद्धि के उपयोग से लगाया जाता है । किन्तु 'अनुमान' में काम करने वाली बुद्धि आखिर में इंद्रियों के अनुभव पर ही आश्रित रहती है । परमात्म वस्तु के दर्शन करने के लिए आवश्यक बुद्धि यह नहीं है । अतः श्रीसमर्थजी ने उसे 'आत्मबुद्धि' ऐसा सार्थक नाम दिया है । 'आत्मबुद्धि' से प्रभु-दर्शन संभव है ।

३, ४) अनुमान करते समय होने वाली ज्ञान क्रिया में द्रष्टा अर्थात् देखनेवाला दृश्य का अलग रीति से, पृथकता से दर्शन करता है । अर्थात् द्रष्टा दृश्य से सदैव पृथक रहता है । परंतु आत्मबुद्धि से होने वाली ज्ञान क्रिया में द्रष्टा दृश्य से ही तदाकार हो जाता है । द्रष्टारूप से वह पृथक रहता ही नहीं । अतः आत्मवस्तु का दर्शन करने वाला मनुष्य उसी में विलीन हो जाता है । फिर देखने वाले के साथ उसका देखना भी समाप्त हो जाता है । सच्चिदानंद की प्राप्ति का अर्थ है - अपना अहं, पृथक अस्तित्व खोकर ब्रह्मरूप होना !

नसे पीत ना श्वेत ना शाम काहीं ।
 नसे वेक्त आवेक्त ना नीळ नाहीं ।
 म्हणे दास विश्वासतां मुक्ति लाहे ।
 मना संत आनंत शोधूनि पाहें ॥१५०॥

श्याम = साँवला, पीत = पीला, श्वेत = सफेद, वेक्त = व्यक्त, आवेक्त = अव्यक्त, अन्त = सीमा, नीळ = नीला

सद्वस्तु ना तो पीली है ना सफेद, ना श्याम वर्ण की है और ना ही नीली । वह दृश्य नहीं है और अदृश्य भी नहीं है । संत वचनों पर श्रद्धा, विश्वास करने से उसका दर्शन होता है और मुक्ति प्राप्त होती है । रे मन ! उस अनंत परब्रह्म की खोज करो ।

विवेचन :

१, २) मनुष्य जब आत्मदर्शन के लिए साधना करने लगता है तो उसकी बुद्धि अधिकाधिक सूक्ष्म होने लगती है । अर्थात् साधारण मनुष्य को न समझने वाली सृष्टि की सूक्ष्म घटनाओं को वह अनुभव कर सकता है । सत्वगुण का रंग सफेद, रजोगुण का पीला एवं तमोगुण का रंग लाल या काला ऐसा साधकों द्वारा वर्णन मिलता है । नामजप करने वाले साधकों का ऐसा अनुभव है कि भक्ति का रंग सफेद, शुद्धबुद्धि का रंग पीला, सकाम पर तीव्र भक्ति का रंग साँवला (नीलिमा लिए काला) और सगुण ध्यानमूर्ति का रंग नीला होता है । कुछ योगियों का अनुभव है कि मूलाधार का रंग लाल, कुंडलिनी का पीला, नाभि के पास सफेद तथा भौंहों के बीच का रंग नीला होता है । कुछ साधकों को भविष्य में घटने वाली घटनाओं का अनुमान होने लगता है । परंतु परब्रह्म इन सब के परे है । वहाँ दृश्य की छुआछूत नहीं है ।

३, ४) जब साधक को रंग, रूप के अतीन्द्रिय अनुभव आने लगते हैं, विविध नाद सुनाई देते हैं या प्रकाश दिखाई देता है तो उसे लगता है कि प्रभुदर्शन हो गया, मुक्त हो गया परंतु यह सच नहीं है । मनोहारी अतीन्द्रिय नाद, रंगों में उलझने से अधिकतम सूक्ष्म में प्रवेश करने का साधक का प्रयास निरर्थक हो जाता है । वहाँ तक पहुँचे हुए साधक को मार्गदर्शन सद्गुरु ही कर सकते हैं । सद्वस्तु अनंत होने के कारण उसका पंथ अनंत, असीम है । फल की ही क्या प्रभु दर्शन की भी अभिलाषा त्याग कर निरन्तर पथिक बनकर मार्गक्रमण करने की कला संत ही साधक को सिखाते हैं ।

खरें शोधितां शोधितां शोधताहे ।
 मना बोधितां बोधितां बोधताहे ।
 परी सर्व ही सज्जनाचेनि योगें ।
 बरा निश्चयो पाविजे सानुरागें ॥१५१॥

शोधिता = पता लगाना, बोधितां = समझाना, निश्चय = ईश्वर के अस्तित्व का विश्वास, सानुरागे = प्रेम से युक्त

सत्य को आग्रह से, तत्परता से खोजने पर उसका पता लगता है । मन को पुनः पुनः समझाया जाए तो वह मान लेता है । परंतु यह सब संतों के सहवास से, सान्निध्य से होता है । सत्संग से सद्वस्तु का निश्चित ज्ञान होता है तथा प्रभु - प्रेम उत्पन्न होता है ।

विवेचन :

१) हर एक मनुष्य के हृदय में, ज्ञान स्वरूप आत्मा विद्यमान रहती है । परंतु वह वासनाओं से, कल्पनाओं से, भावनाओं से ढँकी है । मनुष्य सदैव कुछ प्राप्त करने की कोशिश में लगा रहता है । परंतु ईश्वर की खोज करते करते आत्मरूप तक पहुँचने के लिए दृढ़ अनुराग और श्रद्धा चाहिए ।

२) सत्य की खोज करने के दो मार्ग हैं । पहला - इन्द्रियों द्वारा अनुभूत होने वाले दृश्य विश्व का निरीक्षण कर उसमें सत्य की खोज करना और दूसरा - अपने अंतःकरण में झाँककर सत्य खोजना ! विज्ञान प्रथम मार्ग पर अग्रसर है तो अध्यात्म दूसरे मार्ग का अनुकरण करता है । अध्यात्म में मन एक प्रमुख साधन है । मन को दृश्यों के पीछे भागने की आदत रहती है । अतः मन को बार बार आलस्य त्याग कर नये उत्साह से उपदेश करना पड़ता है ।

३) मन अन्तर्मुख करने के प्रयत्न में मनुष्य कई बार हताश हो जाता है । जब मन अपने काबू में न रहे, ऐसे समय संतों का सहवास अति उपयोगी सिद्ध होता है । उनकी स्वानुभव संपन्न वाणी से साधक की सारी निराशा दूर हो जाती है, साथ ही वह अधिक उत्साह से अपने मार्ग पर दृढ़ हो जाता है ।

४) सत्संग का अर्थ है - श्रद्धा और आदर सहित संतों का साहचर्य ! सत्संग से मन में परिवर्तन होता है और मन की आशंकाएं दूर होती हैं । सत्संग से परब्रह्म के अस्तित्व संबंधी सारे विकल्प नष्ट होकर मनुष्य उस परम्पिता परमेश्वर पर मनः पूर्वक प्रेम करने लगता है ।

बहूतां परी कूसरी तत्वज्ञाडा ।
 परी पाहिजे अंतरी तो निवाडा ।
 मना सार साचार तें वेगळें रे ।
 समस्तां मधें येक तें आगळे रे।। १५२।।

बहूतांपरी = अनेक प्रकार से, कूसरी = कुशलता = चातुर्य, निवाडा = निर्णय तत्वज्ञाडा = तत्वों का विवरण, समस्तामधें = सबतत्वों में

बहुतों ने अनेक प्रकार से, कुशलता से सारतत्वों का वर्णन तथा विश्लेषण किया है। हमें अपनी बुद्धि से विचार कर निश्चित निर्णय करना चाहिए। रे मन, सब तत्वों का सार जो सत् है वह कुछ निराला, कुछ अनोखा ही है। वह सत् सबके अन्दर रहता है और सबसे श्रेष्ठ है।

विवेचन :

१) पुराने वेदांत ग्रंथों में 'पंचीकरण' नामक एक जटिल विषय है। अनेक पंडितों ने, विद्वानों ने असंख्य बोधप्रद रचनाएं लिखी हैं, विज्ञान प्रतिपादित किया है ! वैज्ञानिकों का सम्पूर्ण विश्वास सिर्फ पंचमहाभूतों पर है। विज्ञान का मानना है कि तरह तरह से विभिन्न तत्वों के परस्पर मिश्रण से पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की रचना हुई है। इस परस्पर मिश्रण का नाम ही 'पंचीकरण' है। पंचीकरण का दोष ऐसा है कि अलग अलग वेदांती अलग अलग मिश्रण क्रम बताते हैं। वे परस्पर सहमत नहीं हो पाते और इसी कारण सामान्य मनुष्य अलग अलग बातों में उलझ जाता है, भ्रमित होता है।

२) मनुष्य को चाहिए कि वह शांति से विचार कर के विवेक से सत्य की खोज करे ! जब तक मन में सत्य जानने की भावना नहीं जागृत होती तब तक मनुष्य के प्रयत्न अधूरे रहते हैं। अतः यह अति आवश्यक है कि मनुष्य खुद से यह निश्चय करे कि वह क्या चाहता है और कौन उसका सही मार्गदर्शन कर सकता है !

३, ४) संतों का मानना है कि इंद्रियों को अनुभूत होने वाला दृश्यविश्व सिर्फ पंचभूतों से नहीं बना। उनका कहना है कि समस्त विश्व को धारण करने वाला, उसे उत्पन्न करनेवाला और नष्ट करने वाला परमात्मतत्व कुछ और ही है। मूलभूत सत्य परमात्मतत्व सबमें श्रेष्ठ तो है ही परंतु सबके अन्दर एकत्व से व्याप्त होने वाला यह सच्चिदानंद तत्व कुछ अनोखा ही है।

नव्हे पिंडज्ञानें नव्हे तत्वज्ञानें ।
 समाधान कांहीं नव्हे तानमानें ।
 नव्हे योग यागें नव्हे भोगत्यागें ।
 समाधान तें सज्जनाचेनि योगें।। १५३।।

पिंडज्ञान = शरीरविज्ञान, तत्वज्ञान = दर्शनशास्त्र, याग = यज्ञ, तानमान = संगीतादि कला, योग = अष्टांग योग, सज्जन-संयोग = सज्जनों का समागम

शरीर का विज्ञान, तत्वज्ञान, संगीतादि कला, योगाभ्यास सीख कर या फिर यज्ञ इत्यादि करने से या विषय-सुखों का त्याग कर के वो संतोष नहीं प्राप्त होता जो कि सज्जनों के सहवास से, संत - संगति से सहज प्राप्त होता है।

विवेचन :

१, २) चित् अर्थात् ज्ञान और आनंद अर्थात् कला इनको जीवन के श्रेष्ठ मूल्यों में माना जाता है। ज्ञानोपासना तथा कला संवर्धन में मनुष्य कुछ समय के लिए अवश्य आनंद का अनुभव करता है परंतु अज्ञान का तथा दुख का संबंध इससे समाप्त नहीं होता।

३) योगाभ्यास से साधक समाधि के पड़ाव तक पहुँच सकता है। जब तक मन समाधि अवस्था में स्थित रहता है तब तक देह की तथा संसार की उसे सुध नहीं रहती और वह संतोष का अनुभव करता है। परंतु जैसे ही समाधि टूटती है वैसे ही संतोष का पारा नीचे उतर जाता है। यज्ञयाग में व्रतस्थ रहना पड़ता है तथा उत्कट प्रार्थना से यज्ञदेवता से सम्पर्क जोड़ना पड़ता है। जब तक मन शुद्ध तथा सूक्ष्म रहता है तब तक देवता से सम्पर्क बना रहता है और अल्प संतोष भी प्राप्त होता है। किन्तु जैसे ही मन की अवस्था निचले स्तर पर आती है वैसे ही समाधान नष्ट हो जाता है। कुछ लोग सभी देह सुखों का त्याग करते हैं। इस विचार के पीछे यह सोच है कि समाधान देह के परे होता है। और सभी भोगों का त्याग करने से देह के परे जा सकते हैं। परंतु भोग के त्याग को देह की, समाज की तथा परिस्थिति की सीमाएं होती हैं। अतः उनसे चिरसंतोष नहीं प्राप्त होता।

४) संतों के सहवास का, सत्संगति का समाधान कुछ निराला ही है। संत स्वतः स्वानंदपूर्ण होने के कारण उनके सान्निध्य में हमारे हृदय का आनंद-सागर हिलोरें भरता है। संतों के संपर्क में दुखों के बीच भी ईश्वरभक्ति के आनंद से मन भावविभोर हो उठता है ! यही संत समागम की महिमा है !

महावाक्य तत्वादिकें पंचीकर्णों ।
 खुणें पाविजे संत संगें विवर्णों ।
 द्वितीयेसि संकेत जो दाविजेतो ।
 तथा सांडुनि चंद्रमा भाविजेतो ॥१५४॥

महावाक्य = (प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म) ये चार वाक्य, तत्वादिकें = विश्व रचना के तत्व, पंचीकर्णों = पंचमहाभूतों का मिश्रण, खुणें = संकेत से, विवर्णों = बौद्धिक पृथक्करण से, दाविजेतो = दिखाता है, भाविजेतो = कल्पना करता है

वेदों के महावाक्यों, विश्वरचना के मूल तत्वों, पंचमहाभूतों का विस्तार सभी का विवरण संतों की वाणी से सुनना चाहिए क्योंकि वे सामान्य संकेतों से सरलता से परमात्मवस्तु दिखा सकते हैं, जैसे कोई दूज का चाँद दिखाने के लिए टहनी का उपयोग करता हो और चाँद दिखने पर टहनी हटा लेता हो ।

विवेचन :

१, २) वेदान्त में अध्यात्मशास्त्र के तात्त्विक अंगों, महावाक्यों का विवरण, विश्वरचना के मूलतत्वों की मीमांसा और पंचमहाभूतों के मिश्रण के प्रकार, आदि अनेक विषय प्रतिपादित किए हैं । वेदांत के अभ्यास में गुरु स्वतः आत्मज्ञान संपन्न होना चाहिए और वेदांत श्रवण करने वाला व्यक्ति सच्चा ब्रह्म-जिज्ञासु होना चाहिए । मनुष्य को संतों का सहवास, सत्संग मनः पूर्वक करना चाहिए । संतों के पास बड़ा मनोबल होता है । उनके सहवास में रहने वाला मनुष्य पहले अगर ब्रह्मजिज्ञासु न हो तो भी कुछ समय पश्चात उसके अंतःकरण में परिवर्तन होकर वह ब्रह्मदर्शन के लिये व्याकुल हो उठता है ।

३, ४) संतों के मुख से वेदांत विवरण सुनने से मनुष्य शास्त्रों में बताए तथ्यों का अनुभव करता है । संत संभाषण के बीच स्वयं के अनुभवों को अप्रत्यक्ष रूप से बताते हैं । दूज का चाँद बहुत ही छोटा होता है । जो उसे देख चुका हो, वही दूसरों को दिखा सकता है । किसी पेड़ की शाखा के संकेत के माध्यम से उस पार का चाँद सहज दिखाई दे जाता है । स्वानुभव संपन्न संत महावाक्यों का चिन्ह स्वरूप उपयोग कर के सद्वस्तु को, प्रभु को अनुभव के कक्ष में लाने की कला सिखाते हैं । एक बार अनुभव प्राप्त होने पर फिर शाब्दिक वेदांत, संकेत, कल्पनाएं पीछे छूट जाती हैं और मनुष्य भक्ति की राह पर अग्रसर हो जाता है ।

दिसेना जनीं तेंचि शोधूनि पाहें ।
 बरें पाहतांगूज तेथें चि आहे ।
 करीं घेऊ जाता कदा आडळेनां ।
 जनीं सर्व कोंदाटलें तें कळेना ॥१५५॥

गूज = गूढ, कोंदाटलें = सब दूर व्याप्त, करी = हाथ में, आडळेना = मिलना

संसार में इंद्रियों को जो दिखाई नहीं देता उसे ढूँढना चाहिए । ध्यानपूर्वक सोचा जाए तो उसी में रहस्य छुपा है । हाथ में लेना चाहे तो गूढ, सद्वस्तु पकड़ में नहीं आती फिर भी समस्त संसार को वह व्याप्त किए है यह बात आसानी से समझ में नहीं आती ।

विवेचन :

१, २) जिस तरह वैज्ञानिक संशोधन जीने की नित नई उन्नत राह दिखाता है वैसे ही आत्मसंशोधन हमें शांति और संतोष प्राप्ति के मंगल मार्ग पर ले चलता है । इंद्रियों को जो दिखाई देता है वही सत्य है ऐसा मानने की मन को आदत पड़ी है । इस आदत को छोड़ना चाहिए । ज्ञानेन्द्रियों द्वारा आकलन न होने वाली आत्मवस्तु हमें ढूँढनी चाहिए । उसी खोज में जीवन का रहस्य संग्रहित है । दृश्य वस्तुओं के बाजार में अदृश्य परब्रह्म की खोज करने को ही परमार्थ कहते हैं । यह संशोधन करने की विद्या हमें संत समागम से, संत सहवास से प्राप्त होती है ।

३, ४) कोई भी वस्तु छूकर, देखकर इंद्रियों द्वारा परखकर समझने की और फिर अपने जहन में रखने की आदत हमें रहती है । हमने आज तक यही जाना है और इसी जानने को हम सीखना समझते आए हैं । स्थलकाल से मर्यादित दृश्य वस्तु हम अपने हाथ में ले सकते हैं, अपने अधीन कर सकते हैं । परंतु स्थल काल के परे रहने वाली सूक्ष्म आत्मवस्तु - परब्रह्म इस प्रकार कैसे हाथ आएगी ? आत्मवस्तु अपरिच्छिन्न, असीम है । वह सब जगह समव्याप्त है । उसीका होकर ही उसमें विलीन होकर उसका ज्ञान होता है । उसे देखना, जानना दृश्य के अनुभव से भिन्न पृथक बात है । उसे जानने के लिए अखण्ड साधना की आवश्यकता है । संतों के सहवास में हम अपनी लघुता त्यागकर उस असीम परब्रह्म का अंश अपने में अनुभव करने की कला सीखते हैं । इस आत्म संशोधन को नित्य नई ऊँचाई पर ले जाना हमारे हित में है, उसी से मुक्ति के द्वार खुलेंगे !

महणे जाणता तो जनीं मूर्ख पाहें ।
 अतर्कासि तर्की असा कोण आहे ।
 जनीं मीपणे पाहतां पाहवेना ।
 तथा लक्षितां वेगळें राहवेना ॥१५६॥

मैंने परमात्मा को जाना ऐसा कहने वाला निश्चित ही अज्ञानी, मूढ़ होता है । ब्रह्म जो तर्क से परे है, उसे तर्क से कोई भी नहीं जान सकता । अहंभाव से परमात्मा देखा या जाना नहीं जा सकता । जो सचमुच प्रभु को देख सकता है, वह परमात्मा से अलग नहीं रह सकता बल्कि एकरूप हो जाता है ।

विवेचन :

१, २) स्वयं को ज्ञानी मानने वाला निरा बुद्धि समझना चाहिए । जब तक जीव अपने आप को अज्ञानी समझता है तभी तक वह ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा कर सकता है । जो स्वयं तर्क से परे है उसे तर्कों के आधार पर कैसे जाना जा सकता है । हमारा शरीर, मन तथा बुद्धि स्थलकाल की चौखट में रहकर स्थलकाल की मर्यादा में कार्य करते हैं । सद्वस्तु स्थलकाल की चौखट की मर्यादा से बाहर होती है । अतः अपनी सामान्य बुद्धि से सद्वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता । दृश्य के ज्ञान में “मैं उस वस्तु को जानता हूँ” ऐसा अहंभाव रहता है । परमात्मवस्तु के ज्ञान में अहं का संपूर्ण नाश होना आवश्यक है ।

३) ज्ञान प्राप्ति के दो प्रकार हैं । द्रष्टाभाव से स्वयं को अलग रखकर दृश्य अथवा ज्ञेय का ज्ञान करना यह एक प्रकार हुआ । दूसरा प्रकार कि मैं स्वयं को द्रष्टा या ज्ञाता मानकर दृश्य से या ज्ञेय से तदाकार होकर उसका ज्ञान प्राप्त करूँ । स्थलकाल से मर्यादित वस्तु अलग से देखी जा सकती है । उसका ज्ञान अलिप्त रहकर भी हो सकता है । किन्तु स्थलकाल से परे रहनेवाली सर्वव्याप्त वस्तु अलग रहकर देखना असम्भव है । उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए उससे तद्रूप, तदाकार होना आवश्यक है ।

४) प्रभु मिलन के लिए ज्ञाताभाव से ज्ञेय में विलीन होना ही उचित है । “मैंने जाना” ऐसा कहने वाला अनजाने ही उससे पृथक रहता है । पृथकता का अर्थ है अहंभाव जो भ्रम और मिथ्याज्ञान का चिह्न है । अपने आप को भुलाकर ईश्वर को समर्पित होना ही पाना है, भक्ति है, मुक्ति है ।

बहू शास्त्र धूँडाळितां वाड आहे ।
 जया निश्चयो येक तो ही न साहे ।
 मती भांडती शास्त्रबोधें विरोधें ।
 गती खुंटती ज्ञानबोधें प्रबोधें ॥१५७॥

शास्त्र = ज्ञान की विविध शाखाएं, धूँडाळणे = खोजना, वाड = विस्तार, साहे = मतैक्य होना, मती = विभिन्न मत के, गति खुंटणे = प्रगति रूकना, ज्ञानबोध = ज्ञान प्रकाश, प्रबोध = जागृति

मानवीय ज्ञान शाखाओं का विस्तार बहुत बड़ा है । इसके अतिरिक्त उनमें आपस में मतैक्य नहीं है । आपसी मतविरोध के कारण शास्त्री पण्डित अपना - अपना मत प्रस्थापित करने के लिए हठ पूर्वक लड़ते हैं । ऐसे अनेक शास्त्रज्ञानी लोगों में से किसी बिरले को ही परमात्मज्ञान का प्रकाश मिलता है जिससे जागृत होकर वह अपने आप को झगड़ों से अलग रखता है ।

विवेचन :

१) सुसंस्कृत मानव-समाज में विविध ज्ञान-शाखाओं का विस्तार होता रहता है । उन सभी शाखाओं का सम्पूर्ण अध्ययन करना प्रायः असम्भव है । इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न ज्ञान - शाखाओं का आपस में मतैक्य नहीं रहता ।

२) तत्त्वज्ञान में सबसे अधिक मतभिन्नता दिखाई देती है । कोई ब्रह्मजिज्ञासु व्यक्ति अगर आत्मदर्शन हेतु विविध ग्रन्थों का अध्ययन करने लगे तो उससे पता चलता है कि प्रत्येक ग्रंथ अपने अलग ही मत का प्रतिपादन करता है । सामान्य व्यक्ति दुविधा में पड़कर सही - गलत का फैसला नहीं कर पाता ।

३) अस्तु, मतभिन्नता इतने पर ही समाप्त होती तो कोई बात नहीं परंतु हर एक ग्रन्थकार अपने मत की सच्चाई प्रस्थापित करने के लिए अपने विरोधी मतों का खण्डन करता है । मतों का खण्डन - मण्डन यानि बौद्धिक स्तर पर शास्त्र वचनों के साथ वाक् युद्ध करता है ।

४) इसी कारण शास्त्री - पंडितों में से बिरला ही कोई साधु-सन्त बनता है । सच्चा जिज्ञासु बुद्धि से सद्वस्तु का खण्डन-मण्डन करने की अपेक्षा सद्वस्तु का मनन, चिंतन एवं निदिध्यासन करता है । ज्ञान का बोध होने पर सारी दुविधाएं, मतविरोध स्वयं समाप्त हो जाते हैं । ईश्वर की अनुभूति होने पर जटिल शब्दों के ध्वनि - भेद मन की शांति विचलित नहीं कर पाते ।

श्रुति न्याय मीमांसकें तर्कशास्त्रं ।
स्मृति वेद वेदान्त वाक्ये विचित्रं ।
स्वयं शेष मौनावला स्थीर पाहे ।
मना सर्व जाणीव सांडून राहे ॥१५८॥

श्रुति = वेद, न्याय = न्यायशास्त्र, स्मृति = पुराण, तर्क = तर्कशास्त्र,
मौनावला = चुप बैठा, जाणीव = अपने अस्तित्व का बोध

चार वेद, न्याय, दर्शन, भिन्न भिन्न मीमांसा, तर्कशास्त्र, स्मृति पुराण,
विविध वेदांत ग्रंथ आदि असंख्य शास्त्रग्रंथ विविध प्रकार से ईश्वर का वर्णन
करते हैं। स्वयं शेष भगवान थक कर मौन धारण कर के स्थिर दृष्टि से निहार
रहे हैं। अतः रे मन ! स्वयं को ज्ञानी मानने का अहं छोड़ ब्रह्म को खोजने का
प्रयत्न कर।

विवेचन :

१, २) सत्रहवें शतक में शास्त्री पण्डितों की जीवन शैली का श्रीसमर्थजी
ने यहाँ सहजता से उल्लेख किया है। न्यायशास्त्रों तथा वेदांतशास्त्रों के विविध
कठिन ग्रंथों का अभ्यास कर के वाक्पटुता प्राप्त करना और वाद प्रतिवाद
करते देशभ्रमण करना यह उस समय के पण्डितों का मनपसंद जीवनक्रम था।
ऐसा भी नहीं कि ये शास्त्रों के प्रकाण्ड पंडित वेदांत शास्त्र में कुछ नया
योगदान करते थे। निरर्थक चर्चा और पांडित्य प्रदर्शन - इसके अतिरिक्त
अन्य ध्येय नहीं था।

३) श्रीसमर्थजी कहते हैं कि सोच लो अगर किसी मनुष्य ने संपूर्ण वेदांत
वाङ्मय पढ़कर सद्वस्तु का ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का विचार किया तो वेदांत
का उत्तम अभ्यास करने के पश्चात उसे सद्वस्तु का उत्तम शब्दज्ञान हो
जाएगा और उसके बलपर वह उसका उत्तम बखान भी करेगा। परंतु सबसे
अधिक वाक्पटु शेष भगवान जहाँ पराभूत होकर चुप्पी साध लेते हैं वहाँ
मनुष्य पराभूत हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं !

४) परब्रह्म के ज्ञान के लिए विनम्र आत्मबुद्धि आवश्यक है। देहबुद्धि का
ज्ञान वहाँ निरर्थक होता है। शब्दपांडित्य काम नहीं आता। ईश्वर के प्रति
श्रद्धा और समर्पण की भावना ही हमें उस तक पहुँचा सकती है।

जेणे मक्षिका भक्षिली जाणिवेची ।
तया भोजनाची रूचि प्राप्त कैची ।
अहंभाव ज्या मानसीचा विरेना ।
तया ज्ञान हें अन्न पोटीं जिरेना ॥१५९॥

मक्षिका = मक्खी, भक्षणो = खा लेना, जाणीव = मुझे सब समझता है ऐसी
अहंकार की भावना, मानसीचा = मन का, जिरेना = पचता नहीं

जिस प्रकार गलती से मक्खी निगलते ही भोजन का स्वाद समाप्त हो जाता
है वैसे ही अहं की मक्खी निगलने पर ब्रह्म ज्ञान त्याज्य हो जाता है !

विवेचन :

१, २) जब तक मनुष्य का अहं नष्ट नहीं होता तब तक वह आत्मज्ञान
आत्मसात् नहीं कर सकता। यह समझाने के लिए श्रीसमर्थजी ने यहाँ एक
दृष्टांत प्रस्तुत किया है। एक मनुष्य मिष्ठान्न भोजन कर रहा था। परंतु
अनजाने ही खाते खाते एक ग्रास में एक मक्खी उसके पेट में चली गई।
मक्खी इतनी क्षुद्र सी थी परंतु भोजन पेट में टिकने नहीं दिया। पूरा अन्न
वमन हो गया साथ ही भोजन की रूचि समाप्त हो गई ! उसी प्रकार सद्वस्तु
का ज्ञान मिष्ठान्न समान और अहंकार मक्खी समान है। अहं की मक्खी
आत्मज्ञान स्वरूप मिष्ठान्न को आत्मसात नहीं होने देती। ऊपरी ज्ञान दूसरों
को उपदेश करने के उद्येश्य से वमन की तरह मन से बाहर निकल जाता है।

३, ४) जब तक मन में अहंकार का साम्राज्य है तब तक आत्मज्ञान अंतःकरण
में स्थिर नहीं होता। अहंकार अज्ञान का मुख्य लक्षण होने के कारण ऐसा
होता है। अन्य ज्ञान प्रकारों में और आत्मज्ञान में यह विशेष अन्तर है कि
अन्य सब प्रकार के ज्ञान में ज्ञाता ज्ञेय से भिन्न रहता है। परंतु आत्मज्ञान में
ज्ञाता ज्ञेय से तदाकार, तद्रूप हो जाता है। नदी जिस प्रकार समुद्र में विलीन
हो जाती है, अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठती है वैसे ही आत्मज्ञान होने पर
मनुष्य का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता, उसकी आत्मा का परमात्मा से मिलन
हो जाता है और वह उसमें पूर्णतया विलीन हो जाती है। ईश्वर प्राप्ति की
क्रिया में मुख्य बाधा अहंकार की ही होती है जिसका स्वभाव है - भिन्नता बनाए
रखना ! अतः आत्मज्ञान के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा अहंकार ही अटकाता है।

नको रे मना वाद हा खेदकारी ।
नको रे मना भेद नाना विकारी ।
नको रे मना सीकळं पूढिलांसि ।
अहंभाव जो राहिला तूजपासीं ॥१६०॥

वाद = निरर्थक चर्चा, नाना विकारी = बुरे, पूढीलांसि = अन्य

वाद विवाद बड़ा ही दुखदायी होता है। मन में द्वेष पैदा करता है। जीतने की होड़ में मनुष्य से दुष्कर्म करवाता है। सीख लेने की बजाय मनुष्य दूसरों को सिखाने के लिए अधिक लालायित रहता है। इस प्रकार मनुष्य का अहं ही उसकी प्रगति की राह में सर्वाधिक बाधा डालता है।

विवेचन :

१) संसार विविधताओं से भरा है। श्रेष्ठ गुण ग्रहण करना छोड़, मनुष्य मेरा सब कुछ श्रेष्ठ इसी का ढिंढोरा पीटता है। वस्तुतः वाद विवाद तो बुद्धि का खेल है। सत्य की खोज करना मनुष्य का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। परंतु दो घमण्डी व्यक्ति जब आपस में वाद-विवाद करने लगते हैं तो सत्य की खोज का उद्देश्य परे हटकर सारा ध्यान दूसरे को नीचा दिखाने में लगा रहता है। जिसके कारण सिर्फ अप्रिय वातावरण और कटुता ही निर्माण होती है।

२) अहंकार में यह भावना रहती है कि हम औरों से कुछ भिन्न, अलग, बढ़कर हैं। इसी बड़प्पन की वृत्ति से अहंकारी व्यक्ति बर्ताव करता है। वह किसी से मेल नहीं रख सकता और न ही मित्रता कर सकता है। उसके चारों ओर काम करने वाले हर एक व्यक्ति से वह मन से कोसों दूर रहता है। दूसरों की गलती उजागर करना वह अपनी जीत समझता है और कई अपराध करता है। अपने इस स्वभाव के कारण उसके हृदय में किसी के प्रति सद्भाव दिखाई देना बहुत मुश्किल है। वह स्वयं दुखी रहता है और दूसरों को भी दुख पहुँचाता है।

३, ४) अतः श्रीसमर्थजी मन से विनती करते हैं कि रे मन जिस अहंभाव के कारण तुमने अपना समाधान खोया है, वही औरों को तो न सिखाओ। इस विनाशी स्वभाव के कारण मनुष्य स्वयं में सुधार नहीं ला पाता और उसकी प्रगति रूक जाती है। श्रीसमर्थजी का कहना है कि हर एक मनुष्य को अपने अहंकार को जीतना होगा तभी उसके उद्धार का मार्ग दृष्टिगोचर हो सकेगा।

अहंतागुणों सर्व ही दुख होंतें ।
मुखें बोलिलें ज्ञान ते वेर्थ जातें ।
सुखी राहतां सर्व ही सूख आहे ।
अहंता तुझी तूं चि शोर्धून पाहें ॥१६१॥

सभी दुखों की जड़ अहंकार है। अहंकारी, घमण्डी मनुष्य ने किया हुआ ज्ञान का उपदेश व्यर्थ हो जाता है। अहंभाव का त्याग करके जो सुखी होता है उसे जीवन में परम आनंद का अनुभव होता है। अतः रे मन ! तुम्हारी अहं की भावना तुम ही ढूँढ कर उसका नाश करो।

विवेचन :

१) अहंकार से भेद, अंतर उत्पन्न होता है। भेद से भय निर्माण होता है। भय से चिंता उत्पन्न होती है। चिंता से जीवन के सब दुख प्रकट होते हैं। अतः सब दुखों की जड़ अहंकार ही मानी जाती है।

२) ज्ञान अनंत अपार है। सच्चा ज्ञानी व्यक्ति ज्ञान से पुलकित होकर विनम्र बन जाता है। विनम्रता से निकले हुए उसके ज्ञानवचन सुनने वाले के मन पर उत्तम प्रभाव डालते हैं। किन्तु अगर मनुष्य घमण्डी हो तो वह ज्ञान की अनंत गहराई समझेगा ही नहीं ! ऐसा व्यक्ति महान पंडित भी हो सकता है और वक्ता भी ! फिर गर्व भरा उसका उपदेश सुनने वालों के अंतःकरण को कैसे छू पाएगा? उसका उपदेश देना व्यर्थ हो जाएगा।

३) घमण्ड का परिवर्तन नम्रता में करना, अहंकार का त्याग करना यही सुखी होने का मुख्य उपाय है। अहंकार से मिलने वाला सुख अस्थिर, अस्थायी होता है। परंतु अहंकार के त्याग से मिलने वाले सुख का अनुभव स्थायी होता है।

४) प्रत्येक व्यक्ति को अपना अहंकार प्रयास पूर्वक नष्ट करना चाहिए। अहंकार ढूँढने का आसान साधन है - दूसरे के व्यवहार से अगर क्रोध या दुख उत्पन्न हो तो समझ लो कि अहंकार से मन ग्रसित है ! यह अहंकार की ही महिमा है कि दूसरे द्वारा कहे स्तुति वचन हमें खुशी देते हैं तो निंदा भरे वचन शोक ! कोशिश करनी चाहिए कि हमारी क्रिया या प्रतिक्रिया पर दूसरे के वचनों का प्रभाव न हो और हम वही करें जो हमारा कर्तव्य है।

अहंता गुणों नीति सांडि विवेकी ।
 अनीतिबळें श्लाघ्यता सर्व लोकीं ।
 परी अन्तरी सर्व ही साक्ष येते ।
 प्रमाणांतरे बुद्धि सांडूनि जाते ॥१६२॥

लोकीं = समाज में, श्लाघ्यता = प्रशंसा, साक्ष = सच मालुम हो जाना

अहंकार के कारण विचारी मनुष्य नीति मार्ग त्याग देता है । अनीति के बल पर समाज में प्रसिद्धि भी पा लेता है । परंतु लोग उसकी कितनी ही प्रशंसा क्यों न करें, उसका मन उसे सच्चाई जताता रहता है । फिर भी उसकी बुद्धि शास्त्राधार छोड़ अनीति के मार्ग का हठात अनुसरण करती है ।

विवेचन :

१, २) किसी भी काल में, किसी भी समाज में कम अधिक मात्रा में भ्रष्टाचार रहता ही है । सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति को अच्छे बुरे का ज्ञान होता है परंतु तात्कालिक सुख को वह त्यागना नहीं चाहता । इसी कारण से खाना-पीना, सोना, खेलना, गपशप से लेकर चोरी डाके तक लोगों की नीयत खराब हो जाती है । परंतु दण्ड के डर से अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए लोग भ्रष्टाचार कर के उसे छुपाते हैं । अनीति से समाज में प्रतिष्ठा पाने में भी कुछ व्यक्ति सफल हो जाते हैं ।

३, ४) मानवीय मन की स्थिति ऐसी है कि मनुष्य अहंकार तथा स्वार्थवश चाहे जितना अनीति का आचरण करे और समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करे, फिर भी उसका मन उसे सच्चाई बताता रहता है । मनुष्य संसार को धोखा दे सकता है, परंतु अपने मन को कैसे धोखा देगा । उसके अंतःकरण का अच्छा “मन” उसे नीति के विषय में शास्त्रसम्मत आधार दिखाता है । परंतु स्वार्थ की प्रबलता इतनी अधिक होती है कि उसका बुरा “मन” वे सब नीतिशास्त्र सम्मत आधार ताक पर रखकर मन चाहा स्वैर आचरण करता है और साथ ही अपनी होशियारी का डंका भी बजाता है । “दुनिया में कौन सत्यवान है ?” “मर्द को कुछ न कुछ शौक होने ही चाहिए !” “दारू और मांसाहार न हो तो पार्टी कैसी ?” “पैसे से सब मिलता है” ऐसा कहकर स्वैर आचरण करने वालों की बुद्धि मानो उन्हें छोड़ जाती है ! कैसी विडंबना है कि गलती का अहसास होते हुए भी प्राणी अहंकारवश उसे नहीं मानता !

देहे बुधिचा निश्चयो दृढ़ जाला ।
 देहातीत तें हीत सांडीत गेला ।
 देहेबुधि ते आत्मबुधी करावी ।
 सदा संगति सज्जनाची धरावी ॥१६३॥

देहातीत = देह के परे आत्मा का स्वरूप

अज्ञान के कारण मैं देह ही हूँ ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है । माया में उलझकर मनुष्य आत्महित, आत्मकल्याण से वंचित रहता है । “मैं देह ही हूँ” इस भावना को “मैं आत्मा ही हूँ” ऐसी भावना में बदलना चाहिए । तब अविद्या अहंकार नष्ट होगा और आत्मज्ञान होगा । और यह भावना दृढ़ करने के लिए सत्पुरुषों, सज्जनों का निरंतर सहवास करना चाहिए ।

विवेचन :

१, २) ईश्वर ने अपने संकल्प के अनुसार विश्व की रचना की । उसमें उसने प्रवेश किया । अतः विश्व के दो अंग हैं - एक बाह्य दृश्य अंग और दूसरा उसकी रक्षा करने वाला अदृश्य अंग । दृश्य अंग तत्कालिक, नश्वर, अपूर्ण पंचमहाभूतों से बना है । अदृश्य अंग निश्चित, पूर्ण तथा आत्मस्वरूप का बना हुआ है । हमारे शरीर के यही दो अंग होते हैं । अज्ञानवश हम देह को ही सर्वस्व मानते हैं तथा आत्मा को भूल जाते हैं । अर्थात् हमें जीवन में परमानंद का अनुभव प्राप्त नहीं होता । अतः देह को सर्वस्व मानने की प्रवृत्ति आत्मा की ओर मोड़कर आत्मा को सर्वस्व मानना चाहिए ।

३) दृश्य वस्तुओं के समुदाय में एक वस्तु पर से ध्यान हटाकर दूसरी वस्तु पर केंद्रित करना अधिक मुश्किल नहीं होता । परंतु अदृश्य पर लक्ष्य केंद्रित करना सहज साध्य नहीं है । दृश्य के सापेक्ष आत्मस्वरूप सिर्फ अदृश्य ही नहीं अपितु अति सूक्ष्म तथा अतींद्रिय भी है । उस पर ध्यान केंद्रित करने की विद्या तो सिर्फ साधुसंतों के पास होती है । अतः नित्य उनके सहवास में रहना अतिआवश्यक है ।

४) सज्जन व्यक्ति हर हाल में सदा खुश रहते हैं । उनके आसपास का वातावरण सदैव प्रसन्न रहता है । उन्हें किसी चीज की कमी नहीं खलती । वे ईश्वर के स्मरण में सदा निमग्न रहते हैं । उनका सहवास करने से सामान्य व्यक्ति देह के अस्तित्व को भुलाकर परमात्मा को जान सकता है ।

मनें कल्पिला वीषयो सोडवावा ।
मनें देव निर्गूण तो वोळखावा ।
मनें कल्पितां कल्पना ते सरावी ।
सदा संगति सज्जनाची धरावी ॥१६४॥

निर्गुण = त्रिगुणों के परे स्थित

कल्पनाओं से जाने हुए दृश्य विश्व से स्वयं को दूर करना होगा । त्रिगुणों के परे स्थित हृदयस्थ ईश्वर को जानना होगा । मन में रचाई हुई सुख दुख की कल्पनाएं मन में ही ईश्वर के प्रति श्रद्धा जागृत कर नष्ट करनी होंगी । और यह सीखने के लिए सज्जनों का निरंतर संग अनिवार्य रूप से करना होगा ।

विवेचन :

१) कल्पनाओं के मुक्त संचार से मनुष्य स्वयं अपना एक काल्पनिक संसार निर्माण करता है । यह सच है कि देह से वह ईश्वर निर्मित संसार में रहता है, परंतु मन से वह स्व-निर्मित कल्पना जगत् में विचरण करता है । स्वनिर्मित कल्पनाओं के सुख दुख मनुष्य को सच्चे आनंद से दूर रखते हैं । अपने मन से निर्मित यह जगत् मन से ही नष्ट करना चाहिए ।

२) इस कल्पनामय संसार की नींव दृश्यों पर आधारित होती है । दृश्य सृष्टि के पीछे किसी अदृश्य शक्ति का हाथ है यह हमें समझना है । दृश्य वस्तुओं से आनंद प्राप्त होगा इस कल्पना से मनुष्य मन में दृश्य को बसाता है । यह व्यर्थ कल्पना ही उसके बंधन का कारण होती है । मन में निर्गुण, निराकार परमात्मा का स्मरण बस जाए तो मनुष्य का कल्याण हो सकता है !

३, ४) जो दृश्य होता है वह सब प्रकृति की कक्षा में आता है । प्रकृति त्रिगुणात्मक है । यानि दृश्य संसार त्रिगुणों से बना हुआ है । आत्मस्वरूप त्रिगुणों के परे स्थित है । वहाँ पहुँचने के लिए हमें त्रिगुणों को लांघना पड़ेगा । स्वानुभवी संत ऐसा कहते हैं कि सच में हमारा मन ही अज्ञान का निवासस्थान तथा साधन है । जो वस्तु जैसी नहीं है वह वैसी ही है ऐसी कल्पना कर के उसके पीछे लगना यह मन का स्वभाव है । कल्पना करना यह सच में एक शक्ति है । परंतु वह अनुचित मार्ग पर मुड़ने से उसका विपरीत परिणाम होता है । उसको स्वस्वरूप-आत्मस्वरूप की ओर कैसे मोड़ा जाए इसका उचित मार्गदर्शन संतों की संगति में हम सीख सकते हैं ।

देह्यादीक प्रपंच हा चिंतीयेला ।
परी अंतरी लोभ निश्चीत ठेला ।
हरी चिंतने मुक्तिकांता वरावी ।
सदा संगति सज्जनाची धरावी ॥१६५॥

प्रपंच = संसार, मुक्तिकांता = मुक्ति स्वरूपा पत्नी, वरण = अंगीकार करना

मनुष्य अपना तथा बालबच्चों का अर्थात् अपने प्रपंच का सतत चिंतन करता है । देह और प्रपंच की चिंता एवं मोह में मनुष्य का मन उलझ जाता है । मनुष्य यदि निरंतर प्रभु का चिंतन करे तो उसे मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी । अतः रे मन ! यह साध्य करने के लिए सदा सत्संगति कर !

विवेचन :

१) चिंतन करना यह मानवीय मन का सहज स्वभाव है । मन जिसका चिंतन करता है, उसी का आकार धारण करता है । सामान्य मनुष्य जब गृहस्थी करने लगता है तब वह अपनी देह, अपना परिवार तथा गृहस्थी की वस्तुओं में उलझ जाता है, आसक्त हो जाता है । प्रपंच में उलझने से उसका मन सारे समय उन्हीं व्यक्तियों के तथा उन्हीं वस्तुओं के चारों ओर भटकता है । उसके परिणाम स्वरूप जीते जी तो वह प्रपंच के चिंतन में डूबा रहता ही है, मृत्यु समय भी वह उस चिंतन को अपने साथ ले जाता है ।

२) सुख की कल्पना से मोह पैदा होता है । जिसे हम प्रेम कहते हैं वह वास्तव में भोग या आसक्ति है । सच्चा प्रेम कुछ मांगता नहीं, कर्तव्य भुलाता नहीं ! अगर हमारा ध्येय उच्च है, निःस्वार्थी है तो देह या पारिवारिक मोह हमें कर्तव्य से रोकेगा नहीं वरन् हमारी शक्ति और प्रेरणा बनेगा ।

३) मनुष्य यदि निरंतर प्रभु का चिंतन करे तो उसका मन धीरे धीरे प्रभु का आकार, प्रभु का स्वरूप धारण करेगा । जिस मात्रा में वह भगवत् स्वरूप होगा उसी मात्रा में दृश्यों के बोझ से छूट जाएगा । ऐसा बोझ रहित स्वतंत्र मन परमानंद से भर जाता है, ओतप्रोत हो जाता है मानो मुक्ति से मिलन हुआ हो, विवाह हुआ हो ! शाश्वत आनंद के परमोच्च शिखर पर भगवत्-भक्त विहार करता है ।

४) श्रेष्ठ ध्येय क्या और कैसा होना चाहिए, उसकी लगन कैसे लगे, इन प्रश्नों का उत्तर पहचानने के लिए सज्जनों का साथ अनिवार्य है । संत स्वानुभव से सामान्य मनुष्य की सारी समस्याओं का हल खोज निकालते हैं ।

अहंकार विस्तारला या देहाचा ।
 स्त्रियापुत्रमित्रादिकें मोह त्यांचा ।
 बळें भ्रांति हे जन्मचिंता हरावी ।
 सदा संगति सज्जनाची धरावी ॥ १६६ ॥

देह के संबंधों के विस्तार से स्त्री, पुत्र, मित्र आदि व्यक्तियों का मोह मन को घेर लेता है । पर अज्ञानवश उत्पन्न हुआ यह भ्रम मात्र है । प्रयत्नपूर्वक इस भ्रम को नष्ट करना चाहिए जिससे बार बार जन्म लेने की स्थिति से उबर सकें । इसे साध्य करने के लिए संतों का निरंतर सहवास आवश्यक है ।

विवेचन :

१) मैं देह ही हूँ ऐसी निःसंदेह भावना होना यही देहबुद्धि का स्वरूप है । परंतु यह भावना बढ़ती है और नित नए संबंधों से अन्य व्यक्तियों तथा वस्तुओं को समीप लाती है । अर्थात् वह घनिष्ठता मन से होती है । मोह शब्द 'मुह' धातु से बना हुआ है । मोह का अर्थ है चित्त की विपरीत अवस्था ! जो देह मैं नहीं हूँ वही मैं हूँ ऐसा समझना अर्थात् मोह उत्पन्न होना । उसके पश्चात् इस देह से संबंधित सब कुछ मेरा है ऐसे सोचना मोह का विस्तार है ।

२) व्यक्ति के अहंकार का व्यक्त स्वरूप है - सगे संबंधी, घर, संपत्ति, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि । अहं का रंग इतना निखरता है कि मृत्यु के पश्चात् भी वह इन सबसे जुड़ा रहना चाहता है ! या यूँ कहें कि अन्य जीवित लोगों के माध्यम से वह अपना हक जताना चाहता है । स्वयं ही मोह - माया में अधिक से अधिक उलझना चाहता है !

३) जो मैं नहीं हूँ, वही मैं हूँ ऐसी विपरीत भावना निर्माण होने को वेदांत में भ्रांति कहते हैं । भ्रांति का अर्थ है विपरीत ज्ञान । विपरीत ज्ञान से इस जीवन में अनेकों दुख भोगने पड़ते हैं । और फिर पुनः पुनः जन्म लेना पड़ता है, आवागमन करना होता है । अगला जन्म कौनसा, कैसा होगा इसका कोई भरोसा न होने से चिंता होने लगती है ।

४) सत्संगति में रहकर यह स्पष्ट समझ आने लगता है कि सगे संबंधियों के साथ स्नेहपूर्ण नाता जोड़ना और कर्तव्य-पूर्ति करना आवश्यक है परंतु उनके मोह में ईश्वर को भुलाना या अपना अस्तित्व अपनी देह तक सीमित रखना मनुष्य का कोरा भ्रम है जो उसे उसके श्रेष्ठ ध्येय से परावृत्त कर सकता है ।

बरा निश्चयो शाश्वताचा करावा ।
 म्हणे दास संदेह तो वीसरावा ।
 घडीनें घडी सार्थकाची करावी ।
 सदा संगति सज्जनाची धरावी ॥ १६७ ॥

चिरस्थायी ईश्वर का स्मरण कर मनुष्य को प्रत्येक निर्णय लेना चाहिए । सत्य का विचार कर मन से संदेह निकाल देना चाहिए । वर्तमान का हर पल सफल बनाने का प्रयास हो तो जीवन सफल हो सकता है । यह साध्य करने के लिए अंतर्मन से सदैव संतों के सहवास के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

विवेचन :

१) प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में दीर्घकालीन लाभ को ही श्रेष्ठ समझता है । इसीलिए अपने धन का कुछ हिस्सा अलग रखना चाहता है जिससे बच्चों की पढ़ाई, शादी, बुढ़ापे और आकस्मिक आपत्ति के व्यय का व्यवस्थापन हो सके ! यह सब शाश्वत का ही विचार है । भले ही यह भक्त की शाश्वत की परिभाषा से भिन्न हो परंतु उसकी रचना और शैली एक जैसी है । स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म का, संकुचित ध्येय की तुलना में व्यापकता का, स्वयं को छोड़ संपूर्ण विश्व का, एक नहीं कई जन्मों का विचार करना मनुष्य सीखता है ।

२) शाश्वत के विचारों से संयम, त्याग, परिश्रम, उपासना इत्यादि गुणों का उदय होता है और श्रेष्ठ का ज्ञान होकर मनुष्य के मन की संदेहात्मक स्थिति नष्ट होती है । उचित अनुचित, अभी या बाद में, थोड़ा या अधिक, कब, क्यों, कहाँ, कैसे आदि अनगिनत संदेहात्मक प्रश्न शाश्वत के विचारों से नष्ट होकर सिर्फ एक ही उचित मार्ग आलोकित करते हैं जिस पर मनुष्य उमंग से कदम बढ़ा सकता है ।

३) संदेह उत्पन्न होने के अनेक कारण होते हैं - श्रद्धा का न होना, अपनी शक्ति और योग्यता को न पहचानना, धैर्य एवं इच्छा का अभाव, अनेक प्रकार के भय, सत्य न जानना ! इन जंजालों से पीछा छुड़ाकर अपना जीवन सफल बनाने का एक ही मार्ग है - हर आने वाले पल को सफल बनाना !

४) मन की संदेहात्मक अवस्था से उबरने के लिए मनुष्य को सत्संग करना चाहिए । सत्पुरुष ही हर घड़ी उचित राह पर चलने की प्रेरणा दे सकते हैं । अतः सद्ग्रंथों का वाचन, चिंतन, मनन साधक को निरंतर करना चाहिए ।

करी वृत्ति जो संत तो संत जाणा ।
दुराशागुणों जो नव्हे दैन्यवाणा ।
उपाधी देहेबुधितें वाढवीते ।
परी सज्जना केवि बाधूं शके ते ॥१६८॥

वृत्ति = स्वभाव, संत = सत्स्वरूप, दुराशा = प्रभु के अलावा अन्य वासना, दैन्यवाणा = लाचार, उपाधि = प्रपंच का विस्तार

जिसका मन ईश चिंतन में भगवत् स्वरूप हो जाता है, वही संत है। उसके अंतःकरण में सत्स्वरूप के अतिरिक्त अन्य वासना ही नहीं होती। अतः वह अपने में ही मस्त रहता है। सामान्य मनुष्य की भांति संत उपाधियों से विभूषित नहीं रहता अतः व्यर्थ के प्रलोभनों से वह विचलित नहीं होता।

विवेचन :

१) इस श्लोक में संत की व्याख्या अति उचित तथा यथार्थ है। जिसके विचार, ध्यान, स्मृति, कल्पना तथा भावना सभी आत्मस्वरूप से परिपूर्ण होते हैं वही संत है। ऐसा मनुष्य स्थिर बुद्धि, शांत चित्त और प्रसन्न व्यक्तित्व का होता है। समाज में सामान्य व्यक्ति की भांति सारे व्यवहार करते हुए वह सबसे अलिप्त रहता है। हर्ष, भय, क्रोध इन विकारों से वह दूर रहता है।

२) दृश्य वस्तुओं की वासना मनुष्य को दीन तथा परतंत्र बनाती है। संत के अंतःकरण में नश्वर वस्तुओं के लिए स्थान न होने के कारण वह अपने ही आनंद में मस्त रहता है, मग्न रहता है। विपदाओं से संत घबराता नहीं, विचलित नहीं होता और न ही विवेक खोता है। अभाव, दरिद्रता उसे लाचार नहीं बनाते और सुख एवं ऐश्वर्य प्राप्ति से वह उन्मत्त नहीं बनता।

३, ४) मनुष्य के जीवन में प्रपंच का विस्तार उसके देहाहंकार का संवर्धन करता है। जितनी अधिक उपाधियां उतना ही अधिक गर्व ! उतना ही अधिक प्रलोभन और उतनी ही अधिक समस्याएं ! परंतु संत आत्मवृत्ति में ही तल्लीन, मग्न होने के कारण दृश्य की घटनाएं उसे विचलित नहीं करतीं। अपने चारों ओर क्या हो रहा है इसका ज्ञान संत को रहता है परंतु हर एक घटना के पीछे रहने वाली ईश्वर की सत्ता उसे स्पष्ट दिखाई देती है। अतः उस घटना के सुख दुख उसे बाधक नहीं बनते। देह से वह प्रपंच में रहता है फिर भी मन से वह स्वस्वरूप में सुरक्षित, स्थिर रहता है।

नसे संत आनंत संता पुसावा ।
अहंकार विस्तार हा नीरसावा ।
गुणोंवीण निर्गूण तो आठवावा ।
देहेबुधिचा आठऊं नाठवावा ॥१६९॥

नीरसावा = मिटाना, आठव = स्मरण, गुणोंवीण = गुणरहित

शाश्वत अनंत परमात्म स्वरूप संतों से जान कर मनुष्य को अपने अहं का विस्तार कम करना चाहिए। देह बुद्धि का स्मरण भुलाकर गुणों से परे जो परमात्मा है उसीका स्मरण रखना चाहिए अन्यथा माया मोह जकड़ लेंगे।

विवेचन :

१) नश्वर के मोहपाश में फंसी हमारी बुद्धि को अनंत आत्मस्वरूप नहीं समझ में आता परंतु संत उसे जानते हैं। अतः आत्मस्वरूप के विषय में उन्हीं से पूछना चाहिए। उनके कथन से हमें उस स्वरूप की कल्पना हो जाएगी।

२) उस कल्पना की पार्श्वभूमि पर हमें अपने अहं तथा प्रपंच विस्तार की अर्थहीनता का अनुभव होगा। अतः विवेक से दोनों को नष्ट करना चाहिए। जैसे बेचने वाला अपनी वस्तु के आगे अन्य वस्तुओं को तुच्छ समझता है उसी प्रकार अहंकार में फंसा व्यक्ति संतवचनों का महत्व नहीं जानता।

३) मनुष्य को चाहिए कि एक ओर मन से त्रिगुणों के परे स्थित आत्मस्वरूप का निरंतर स्मरण करे और दूसरी ओर उसी मन से मैं देह हूँ इस भावना का स्मरण क्षीण करने का प्रयास करे। अपनी देह को अत्यधिक महत्व देने से जीवन भर हम देह को भूल ही नहीं पाते। एक छोटे से कमरे में बारह साल बंद रहे मनुष्य को दस फीट के पार देखने की शक्ति शेष नहीं रहती ! उसी प्रकार सारी आयु देह में कैद हमारे मन को इन्द्रियगोचर संसार के परे देखने की शक्ति ही शेष नहीं रहती।

४) परमात्मवस्तु गुणातीत तथा अतीन्द्रिय है। उसे देखने के लिए देह का बन्दीखाना तोड़ना होगा। अहंकार को मिटाने और अनन्त सद्वस्तु की खोज के लिए श्रीसमर्थजी के बताए उपाय-गुणरहित स्वरूप के अस्तित्व का निरंतर स्मरण करने का अभ्यास और साथ ही देहबुद्धि का स्मरण टालने का अभ्यास कारगर हैं। आत्मस्वरूप का स्मरण स्थिर होने पर देह का स्मरण धीरे धीरे क्षीण होकर नष्ट हो जाएगा।

देहेबुद्धि हे ज्ञानबोधें तजावी ।
विवेके तये वस्तुची भेटि घ्यावी ।
तदाकार हे वृत्ति नाही स्वभावे ।
म्हणोनि सदा तें चि शोधित जावें ॥१७०॥

ज्ञानबोध = “मैं देह न होकर आत्मा ही हूँ” यह विचार,

वस्तु = आत्मवस्तु = ब्रह्म, तदाकार = तन्मय

“मैं आत्मा हूँ” इस विचार से “मैं देह ही हूँ” यह भावना नष्ट करनी चाहिए। आत्मविचार से आत्मवस्तु का साक्षात्कार करना चाहिए। हमारा मन स्वभावतः सद्वस्तु यानि आत्मा से एकरूप नहीं हो पाता। अतः निरंतर प्रयत्नपूर्वक प्रभु की, आत्मवस्तु की खोज करनी चाहिए।

विवेचन :

१) मैं देह हूँ यह भावना अज्ञान से निर्मित हुई। अज्ञान दूर हटाने का एकमात्र उपाय ज्ञान ही है। पहले आत्मानात्म विचार से मैं देह न होकर आत्मा ही हूँ ऐसा बुद्धि का निश्चय करना होता है। परंतु देहेबुद्धि का स्वभाव ऐसा है कि मैं आत्मा ही हूँ यह विचार मन में दृढ़ नहीं होता, स्थिर नहीं रहता। उसे स्थिर, दृढ़ करने के लिए साधक को उसका विवेक अखण्ड जागृत रखना पड़ता है।

२) स्वप्न के दुख सुख जिस प्रकार जागृतावस्था में शेष नहीं रहते उसी प्रकार आसक्ति से जन्में सुख दुख विवेक विचारों के जागृत होने पर समाप्त हो जाते हैं। शरीर संरक्षण के लिए इन्द्रियों विषय वस्तु की ओर ध्यान मोड़ती हैं जो नैसर्गिक है। परंतु शरीर साधन मात्र है, साध्य नहीं यह हम भूल जाते हैं और इन्द्रियप्रवृत्त दिशाओं में भटक जाते हैं। अतएव प्रतिक्षण अपने ध्येय की स्मृति मन में उजागर करने से इन्द्रियों पर वश प्राप्त हो सकेगा।

३, ४) देह से एकरूप हुआ मन स्थूल बनता है परंतु आत्मा तो सूक्ष्म है। अतः हमारा मन स्वभावतः आत्मरूप से एकरूप नहीं हो पाता। अपने मन को सूक्ष्म बनाने के लिए निरंतर अभ्यास करना यही राजमार्ग है। देह से सुख प्राप्त करने का आकर्षण क्षीण बनाकर मन को आत्मा की ओर आकृष्ट करने से हमारा काम बन जाता है। अपना ध्येय निश्चित कर उसे पाने का अविरत प्रयत्न करना यही देहसुख भुलाने का सरलतम उपाय है।

असे सार साचार तें चोरलेंसे ।
येही लोचनीं पाहतां दृश्य भासे ।
निराभास निर्गुण तें आकळेना ।
अहंतागुणें कल्पितां ही कळेना ॥१७१॥

चोरलेंसे = गुप्त, भासे = आभास होना, साचार = सचमुच

आभास = मिथ्याज्ञान, निराभास = आभास रहित, सार = निष्कर्ष

परमसत्य तथा संपूर्ण दृश्य विश्व का सार तत्त्व ‘परमात्म-स्वरूप’ गुप्त है। अपनी आँखों से, चर्मचक्षुओं से जो हम देखते हैं वह सत्यस्वरूप न होकर उसका आभास है। देह के अहंकार की मर्यादा में रहकर हम चाहे जितनी कल्पना करें फिर भी आभासशून्य तथा निर्गुण परमात्मस्वरूप का आकलन होना असम्भव है।

विवेचन :

१, २) मनुष्य की ज्ञानप्रक्रिया का ऐसा नियम देखने को मिलता है कि इंद्रियों को केवल विशेष वस्तु ही गोचर होती है, ज्ञात होती है। उन विशेष वस्तुओं से परिपूरित रहनेवाला सार तत्त्व उन वस्तुओं में गुप्त रूप से रहता है। तत्त्व की दृष्टि से सार तत्त्व सत्य और सामान्य है और विशेष उस सामान्य का एक अविष्कार है। वह सर्वतः पूर्णतः सच न होने के कारण उसे सामान्य का आभास कहने में कोई हर्ज, हानि नहीं है। तात्पर्य इंद्रियों को दिखनेवाला यह जग आभासमय होता है।

३) आत्मा निर्गुण निराकार होने के कारण इंद्रियों की अनुभव कक्षा से बाहर है। और हम इंद्रियों का आधार लिए बिना ज्ञान प्राप्त करना जानते ही नहीं! अतएव परमात्मज्ञान हमारी पहुँच से बाहर है। सद्वस्तु देखने के लिए आत्मज्ञान रूपी चक्षुओं की आवश्यकता है। यँ तो आत्मा हर एक के हृदय में वास करती है परंतु उसके दर्शन सबके बस में नहीं!

४) मनुष्य जब इंद्रियों द्वारा संसार को देखता है तब वह देहाहंकार केंद्रित होता है। उसके देखने की मर्यादाएं स्थूल होती हैं। परमात्म-वस्तु को त्रिगुणों का स्पर्श नहीं है। वह अति सूक्ष्म अतीन्द्रिय और कल्पना के परे है। इसी कारण अहंकार के रहते मनुष्य कभी परमात्मा को नहीं देख पाएगा। जब तक मनुष्य को उसके अज्ञान का बोध नहीं होता वह ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा ही नहीं करता। फिर हृदयस्थ आत्मा का स्वरूप कैसे समझेगा ?

स्फुरे वीषयीं कल्पना ते अविद्या ।
 स्फुरे ब्रह्म रे जाण माया सुविद्या ।
 मुळीं कल्पना दों रूपें ते चि जाली ।
 विवेकें तरी सस्वरूपीं मिळाली ॥१७२॥

स्फुरे = भाव उदित होना, विषयीं = दृश्य विश्व, मुळीं = उगम स्थान

दृश्यविश्व लक्षित कल्पनास्फुरण अज्ञान का चिन्ह है, तो अदृश्य आत्मवस्तु उद्येशित स्फुरित कल्पना, ज्ञान का चिन्ह । आदिपरमात्मस्वरूप में दो रूपों से कल्पना स्फुरित हुई । परंतु विवेकबुद्धि से सदाचरण अपनाने पर उस कल्पना का सत्यस्वरूप से मिलन होता है ।

विवेचन :

१) विश्व का निर्माण करने वाली ईशकल्पना के दो अंग हैं । स्वस्वरूप सच है यह समझकर कल्पना जब दृश्य को त्याग कर पीछे मुड़ती है तब वह ज्ञान के अधीन होती है । जब सिर्फ दृश्य को सच मानकर कल्पना उसका पीछा करती है तब वह अविद्या के अधीन हो जाती है । बीजगणित में प्रायः किसी अक्षर को मूल्य मानकर आगे बढ़ते हैं और अन्त में उत्तर पाने पर उस माने हुए अक्षर को यानि माया को भूल जाते हैं ! अगर लक्ष्य भुलाकर उस अक्षर के ही पीछे सिर्फ भागते रहे तो उद्येश्य प्राप्ति कभी न हो सकेगी !

२) माया का वह रूप जो ब्रह्म से साक्षात्कार कराए, सुविद्या कहलाता है ! माया का शुद्ध सत्त्वरूप भक्त की साधना को सफल बनाता है । वह माया की ही शक्ति थी जो गोपीयों को, शबरी को तार गई । स्नेहरूप माया जो सिर्फ त्याग और कर्तव्य जानती है, मनुष्य को भगवान बना देती है ।

३,४) मूल आदि सद्द्वस्तु सर्वार्थ से अस्तित्व में है, अतः वह सत्ता स्वरूप है । उसी प्रकार वह ज्ञानस्वरूप तथा अनंत भी है । परंतु प्रत्यक्ष अनुभव देखें तो संसार असत्, अशाश्वत्, अज्ञानमय तथा नाशवान या मर्यादित है । अर्थात् यह दृश्यविश्वमाया उस सद्द्वस्तु की, ब्रह्म की ही अतर्क्य कल्पना होनी चाहिए । यानि प्रारंभिक कल्पना एक ही है । परंतु मानवीय जीवन में दो भिन्न रूपों में उसका अनुभव होता है । विवेक से की हुई कल्पना अन्त में स्वस्वरूप में श्रेष्ठता से विलीन हो जाती है ।

स्वरूपीं उदेला अहंकार राहो ।
 तेणें सर्व आच्छादिलें व्योम पाहों ।
 दिशा पाहतां ते निशा वाढताहे ।
 विवेकें विचारें विवंचूनि पाहे ॥१७३॥

स्वरूपीं = परमात्मस्वरूप में, उदेला = उदय, अहंकार राहो = अहंकार स्वरूप 'राहू', दिग्भ्रम = दिशाओं का भ्रम होना

अहंकार रूपी राहू का आदि परमात्म स्वरूप में उदय हुआ । आकाशवत् रहनेवाला निर्मल ज्ञान उसने ढक दिया । अतः सब ओर अज्ञान का अन्धेरा फैल गया । मनुष्य को विवेक से इस तथ्य का विचार करना चाहिए ।

विवेचन :

१, २) नित्य प्रकाशवान रहनेवाला सूर्य ग्रहण के समय राहू से ग्रसा जाता है । इससे आकाश में चारों दिशाओं में अंधेरा छा जाता है ऐसी धारणा है । इस दृष्टांत का उपयोग करके श्रीसमर्थजी यहाँ कहते हैं कि आदि आत्मस्वरूप स्वयं प्रकाशित है । परंतु उस स्वरूप में अहंकार रूप राहू का उदय होता है । वह राहू आत्मस्वरूप को अज्ञान से ढक देता है । अतः ज्ञान का प्रकाश लुप्त होकर चारों ओर अज्ञान का अंधेरा छा जाता है ।

३) इसका अर्थ यह है कि मानवीय जीवन में ज्ञान तथा अज्ञान दोनों का अनुभव होता है । वस्तुतः मूल सद्द्वस्तु ज्ञानमय है, इसमें संदेह नहीं है परंतु उसीमें ज्ञान ढकनेवाला अज्ञान भी जन्म लेता है इसमें भी संदेह नहीं है । अहंकार रूप में अज्ञान साकार होता है । ज्ञान की तरह उसका विस्तार भी आकाश जैसा अनंत प्रतीत होता है । अंतर इतना ही है कि ज्ञान शाश्वत सत्य है तो अज्ञान अशाश्वत कल्पना की माया है ।

४) राहू का अस्तित्व काल्पनिक है । वह शनि या मंगल की भांति सचमुच का ग्रह नहीं ! वैसे ही अज्ञान 'ज्ञान' की भांति सत्य नहीं ! सिर्फ माया से उसका प्रभाव सामने आता है । अहंकार यानि ऐसा भाव जिससे भ्रम सत्य प्रतीत होता है । जब तक सत्य का ज्ञान नहीं होता असत्य ही सत्य की भूमिका ले लेता है और अहंकार सत्य की खोज करने नहीं देता ! विवेक से ही सत्य की खोज संभव है । मनुष्य को उचित अनुचित का विचार सदैव करना चाहिए ।

जया चक्षुने लक्षितां लक्षवेना ।
 भवा भक्षितां रक्षितां रक्षवेना ।
 क्षयातीत तो आक्षै मोक्ष देतो ।
 दया दक्ष तो साक्षिनें पक्ष घेतो ॥१७४॥

भव = दृश्य विश्व, भक्षिता = नष्ट करने के पश्चात्, क्षयातीत = अक्षय, दयादक्ष = दया करने में तत्पर, साक्षिनें = गवाह बन कर

परमात्मवस्तु चर्मचक्षु से देखने का प्रयत्न करें तो देख नहीं सकते । ज्ञानचक्षु से उसका दर्शन हुआ तो दृश्य विश्व विलीन होता प्रतीत होता है । नश्वर दृश्य की रक्षा करने की चेष्टा करें तो चाह कर भी नहीं कर सकते । आत्मा स्वयं अक्षय है और प्रभु का दर्शन अक्षय मोक्ष प्रदान करता है । वह सचमुच दयालु है जो संतों का पक्ष लेकर सदैव उनकी रक्षा के लिए तत्पर खड़ा है ।

विवेचन :

१) स्थूल विश्व दृश्य देखने, जानने के लिए ही इंद्रियों का अस्तित्व हुआ । आत्मस्वरूप अति सूक्ष्म तथा व्यापक होने के कारण इंद्रियां उसे देखने में असमर्थ, अक्षम होती हैं ।

२) ज्ञानदृष्टि अतीन्द्रिय होती है । अज्ञान को नष्ट करना, उसकी निवृत्ति करना यही ज्ञान का कार्य है । ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति के साथ अज्ञान का कार्य भी समाप्त हो जाता है । निरंतर परिवर्तनशील दृश्य विश्व अज्ञानता का परिचायक है जिसका अस्तित्व एवं अर्थ ज्ञानी के लिए शेष नहीं रहता ।

३) अज्ञानावस्था में दृश्य से आनंद प्राप्त होगा इस भ्रम से जीव दृश्य में फँस जाता है । परंतु ज्ञानावस्था में यह भ्रम टूट जाने पर, नष्ट होने पर दृश्य का बंधन टूट जाता है और शाश्वत स्वतंत्रता प्राप्त होती है । इसी को मोक्ष प्राप्ति कहते हैं । इस अवस्था में कहना, सुनना, करना कुछ शेष नहीं रहता !

४) प्रभु दयालु, कृपालु है इस कथन का भावार्थ यह है कि हमारी ओर से जितनी उत्कटता, उत्कण्ठा दिखाई देती है उससे कई गुना अधिक सहायता हमें प्रभु से प्राप्त होती है । समस्त दृश्य विश्व को अंतःकरण में धारण करनेवाला वह ईश्वर हर एक के जीवन में साक्षी भाव से उपस्थित रहता है । उसकी उपस्थिति से बड़ा धैर्य और सन्तोष मिलता है ।

विधी निर्मितां लीहितो सर्व भाळीं ।
 परी लीहिता कोण त्याचे कपाळीं ।
 हरू जाळितो लोक संव्हारकाळीं ।
 परी सेवटीं शंकरा कोण जाळी ॥१७५॥

विधी = ब्रह्मा, भाळीं = ललाट पर, हरू = शंकर, संव्हारकाळी = प्रलय में

सृष्टि के निर्माता ब्रह्माजी प्राणियों के ललाट पर उनका भाग्य लिखते हैं । फिर ब्रह्माजी के ललाट पर उनका भाग्य कौन लिखता है ? विश्व संहारक शंकरजी प्रलयकाल में विश्व को जला देते हैं, उन शंकरजी को कौन जलाता है ? उनका नाश भला कौन करता है ?

विवेचन :

१-४) पुराणोक्त कल्पना है कि ब्रह्माजी विश्व का निर्माण करते हैं, श्रीविष्णु उसके पालनकर्ता हैं और श्रीशंकर उसका संहार करते हैं । विश्व के व्यवहार के तीन अंग होते हैं - अव्यक्त से व्यक्त में अवतरित होना यह प्रथम अंग, स्थूल जीवन मृत्यु प्राप्त होने तक जीना यह दूसरा अंग, अन्त में व्यक्त से अव्यक्त में विलीन होना यह तीसरा अंग । विश्व में बहुत बड़े पैमाने पर चल रही ये तीनों प्रक्रियाएं युगों-युगों से पूर्णतः नियमवत् चल रही हैं । अतः उसके मूल में, शक्तिशाली देवता हैं ऐसी मनुष्य कल्पना करता है । परंतु आत्मानात्म विचार करने पर ऊपर निर्देशित देवताओं की चर्चा से कल्पनाओं का सदोषत्व स्पष्ट होता है । मनुष्य के मन में ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं कि ब्रह्मा सबका निर्माता है तो उस ब्रह्मा का निर्माता कौन है ? उसी प्रकार श्रीविष्णु का पालन और भगवान शंकर का संहार कौन करता है ? कार्यकारण भाव के आधार से इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढे तो इन तीन देवताओं का निर्माण करनेवाला श्रेष्ठ प्रभु, ईश्वर कोई अलग ही है यह मानना पड़ता है । वही श्रीसमर्थजी का श्रेष्ठ ईश्वर है । साधक को यहाँ श्रीसमर्थजी अध्यात्म की गहराई समझा रहे हैं । प्रत्येक मनुष्य ऊँचा उठने के लिए कोई सहारा चुनता है । वह जानता है कि हर छोटे बड़े सहारे का भी कोई निर्माता, पालनकर्ता और कोई संहारक होता है । सहारा ढूँढते समय साधक को इन तीनों शक्तियों का स्मरण रखना चाहिए और किसी भी परिस्थिति में आदि परमात्मवस्तु निर्गुण निराकार सच्चिदानंद ब्रह्म को नहीं झुठलाना चाहिए ।

जगी द्वादशादित्य हे रूद्र आक्रा ।
 असंख्यात संख्या करी कोण शक्रा ।
 जगी देव धुंडाळितां आढळेना ।
 जनीं मुख्य तो कोण कैसा कळेना ॥१७६॥

द्वादशादित्य = बारह वैदिक सूर्य देवता, असंख्यात = अगणित, रूद्र = ग्यारह वैदिक देवताओं का समुदाय, शक = इन्द्र

विश्व में बारह सूर्य हैं । ग्यारह रूद्र हैं । इंद्रों की संख्या तो अगणित है । उनकी गिनती करना कठिन है । देवताओं के समुदाय में प्रभु की खोज करनेपर वह मिलता नहीं है । सबसे निराला प्रमुख ईश्वर कौन और कैसा है यह समझ में नहीं आता ।

विवेचन :

१) वेदवाङ्मयों में तथा पुराणों में अनेकानेक देवी देवताओं का वर्णन मिलता है । सामान्य मनुष्य की प्रवृत्ति होती है कि अपनी इच्छा पूर्ति के लिए किसी शक्तिशाली के पास अनुनय विनय करे, उसकी आराधना करे जिससे वह प्रसन्न होकर उसकी मांग पूरी करे । जब उसे कोई ऐसा शक्तिशाली मनुष्य नहीं दिखाई देता तो वह काल्पनिक देवता निर्माण कर लेता है । साधारण से साधारण कार्य के लिए भी मनुष्य विवेक विचार कर कृति करने की अपेक्षा सहारा मांगने का आदि बन जाता है !

२) वेदों में जो तैंतीस कोटी देव देवताओं का वर्णन मिलता है, उनमें से कुछ लोकप्रिय आदित्य रूद्र, इंद्र आदि देवताओं का उल्लेख श्रीसमर्थजी यहाँ करते हैं । मनुष्य अपनी वासनापूर्ति के लिए इष्ट देवताओं की पूजा अर्चना करता है मानो ईश्वर केवल उसकी मनोकामना पूर्ण करने के लिए बना हो ! फिर यह गहन प्रश्न उठ खड़ा होता है कि किस देवता की पूजा की जाए !

३,४) जिसे ईश्वर के सूक्ष्म स्वरूप का विचार है, सूक्ष्म स्वरूप की कल्पना करनी है, उसकी दृष्टि से ये असंख्य देवी देवता अत्यंत अपूर्ण हैं । मनुष्य को प्राप्त हुई भव्य कल्पनाओं में देवता की कल्पना सबसे अधिक दिव्य है । परंतु संतों को अनुभूत ईश्वर कोई भिन्न निराला ही है । वह सच्चिदानंद स्वरूप है, तथा कथित देवताओं का भी देवता है । जगत् के फैलाव में मुख्य ईश्वर को ढूँढे तो वह कैसे मिले । उसकी खोज प्रथम अपने अंतःकरण में, अपने हृदय में करें, फिर विश्व के अंतरंग में उसे ढूँढें ।

तुटेना फुटेना कदा देवराणा ।
 चळेना ढळेना कदा दैन्यवाणा ।
 कळेना कळेना कदा लोचनासी ।
 वसेना दिसेना जनीं मीपणासी ॥१७७॥

देवराणा = ईश्वर, मीपणासी = अहं से ग्रस्त बुद्धि को

ईश्वर कभी टूटता नहीं है, फूटता नहीं है, गलता नहीं है, बदलता नहीं है । परंतु सदैव अस्तित्व रखने वाले उस ईश्वर के दर्शन हमारे चर्मचक्षुओं को नहीं होते । अपने देहाहंकार, अपने अहंभाव के कारण उसके अस्तित्व का बोध नहीं हो पाता ।

विवेचन :

१, २) वस्तुतः देवत्व एक दिव्य अनुभव है । सद्वस्तु के ज्ञान का प्रकाश यही वास्तव में ईश्वर मानना चाहिए । ज्ञान कोई पंचभूतात्मक जड़ दृश्य वस्तु नहीं है । अतः दृश्य वस्तुओं के गुणधर्मों का स्पर्श ईश्वर को नहीं होता । ईश्वर कभी टूटेगा नहीं, फूटेगा नहीं, गलेगा नहीं, बदलेगा नहीं, स्थानभ्रष्ट नहीं होगा । वह पूर्ण ही है, अतः उसे कभी भी किसी भी तरह की न्यूनता नहीं होती । वह मनुष्य की तरह कोई व्यक्ति नहीं है । ईश्वर देव नहीं है और देवी भी नहीं है । ईश्वर केवल अस्तित्व है ।

३) हमें दृश्य इतना सत्य सच मालुम होता है कि मानवीय जीवन की सभी वस्तुओं, व्यक्तियों, अनुभवों और मूल्यों को हम दृश्य की अर्थात् इन्द्रियों की कक्षा में ही देखने का प्रयास करते हैं । ईश्वर के, प्रभु के अस्तित्व का अनुभव अगर कभी प्रतीत होता भी है तो तुरंत उसे चर्मचक्षुओं से देख कर विश्वासयोग्य बनाने का असफल प्रयत्न करते हैं ।

४) संसार में जब तक अहंकार की सत्ता है तब तक प्रभु का अस्तित्व समझ में नहीं आ सकता । ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान होने के लिए अहंभाव की सत्ता का जीवित रहना असंभव जान पड़ता है । अहंकार केवल दृश्य तथा बाह्य जगत् देखता है । प्रभु को, ईश्वर को देखने के लिए अपने अंतःकरण में झाँकना पड़ता है, उसके भीतर गहरे उतरना पड़ता है । किसी विशिष्ट आकार की मूर्ति का अर्थ भगवान न होकर पत्थर में अपनी श्रद्धा से मूर्ति प्रतिष्ठित करनी होती है । फूल चढ़ाने से इतिश्री नहीं वरन् नित्य पूजा के माध्यम से उस श्रेष्ठ शक्ति को समर्पित होने में जीवन की धन्यता है ।

जया मानला देव तो पूजिताहे ।
परी देव शोधूनि कोणही न पाहे ।
जगीं पाहतां देव कोटयान कोटी ।
जया मानली भक्ति जे तेचि मोठी ॥१७८॥

मानला = पसंद आया, कोटयानकोटि = असंख्य

जिसे जो देवता पसंद आता है उस देवता की वह पूजा अर्चना करता है । किन्तु सत्य की, ईश्वर की खोज कोई भी नहीं करता । संसार में, समाज में देखें तो असंख्य देवी देवता हैं । जिसकी जिस पर श्रद्धा होती है, भक्ति होती है, उसी को वह श्रेष्ठ समझता है ।

विवेचन :

१, २) उपासनाशास्त्र के अनुसार लोग सात्विक, राजस तथा तामस स्वभाव के होते हैं । हर एक को अपनी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार सात्विक, राजस या तामस देवता प्रिय लगता है । अर्थात् अपने प्रिय देवता की मूर्ति की मनुष्य पूजा-अर्चना करता है । उसे जो प्रिय होता है वही उसे अर्पण करता है । कुछ देवताओं को मदिरा तथा मांस का प्रसाद चढ़ाना पड़ता है – यह भी सर्वविदित है । भगवान की पूजा अर्चना करने वाला कोई व्यक्ति सत्य की, ब्रह्म की खोज करता ही नहीं ! मनुष्य इतना विचार भी नहीं करता कि जिस देवता को मनुष्य की भांति व्यसन है वह ईश्वर कैसे हो सकता है । पूजा में समर्पण की भावना कम और ऐश्वर्य और सजावट का दिखावा अधिक होता है । विविध प्रकार की पूजा, अर्चना की नियमावलीयों के आगे मन के पवित्र भाव सादर करने को समय ही नहीं बचता !

३, ४) समाज में जितने देवता प्रचलित थे और आज प्रचलित हैं, उनकी संख्या देखी जाए तो आश्चर्य ही होता है । विशेषतः भारत में तो यह बात प्रकर्षता से दिखाई देती है । प्रारंभ में वैदिक देवता लोकप्रिय थे । इसके पश्चात् पौराणिक देवता लोकमान्य हो गए । बीच में कुछ समय में परधर्मी साधू तथा देवताओं की पूजा अर्चना प्रचलित हुई । आसक्ति से परावृत्त होने के लिए भोग लगाने यानि ईश्वर को इच्छाएं अर्पण करने की प्रथा है न कि प्रसाद का स्वयं भोग लेने की ! समाज की यह मनोवृत्ति देखकर श्रीसमर्थजी जैसे समाजोन्मुख संतों को बहुत दुःख होता है । अतः सामान्य लोगों को सच्चा ईश्वर कौन और कैसा समझाने के लिए वे सदा प्रयत्नशील रहते हैं ।

१७८/ मन की आँखें खोल

तिन्ही लोक जेथूनि निर्माण जाले ।
तया देवरायासि कोणही न बोले ।
जगी थोरला देव तो चोरलासे ।
गुरूवीण तो सर्वथा ही न दीसे ॥१७९॥

न बोले = पूछता नहीं है, थोरला = श्रेष्ठ, न दीसे = अनुभव नहीं आता

यह त्रिभुवन जिसकी रचना है, जिसने इसे निर्माण किया है, उस ईश्वर को कोई नहीं जानता । उस ईश्वर की खोज कोई नहीं करता । सबसे श्रेष्ठ ईश्वर अति सूक्ष्म है, अतः गुप्त है, दिखाई नहीं देता । सद्गुरु के मार्गदर्शन के बिना उसका बोध नहीं होता, उसको पहचाना नहीं जा सकता ।

विवेचन :

१, २) सामान्य मनुष्य की बुद्धि में अधिकतर धैर्य, बल नहीं होता, दृढ़ता नहीं होती । सामान्य तथा छोटी मोटी घटनाओं के कारण ढूँढने में मनुष्य को अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है । परंतु समस्त विश्व का विचार करके त्रैलोक्य के आदिकारण की खोज करने की क्षमता, विचारों की गहराई तथा व्यापकता उसकी बुद्धि में नहीं है । अतः त्रिलोकीनाथ ईश्वर का कोई विचार ही नहीं करता ।

३, ४) दैनिक जीवन में दृश्य घटनाओं का कारण भी प्रायः दृश्य होता है । या फिर किसी स्थूल के पीछे गुप्त या अदृश्य हुआ होता है जिसे खोजने में बुद्धि व्यस्त रहती है । ईश्वर अति सूक्ष्म है और सूक्ष्म में प्रवेश करने में अक्षम बुद्धि उसके परे छलांग नहीं लगा सकती । अतः दृश्य अदृश्य के झमेले में स्थित बुद्धि के लिए वह आकलनशून्य एवं अगम्य है । सूक्ष्म में मुक्त होकर एवं बंधन रहित होकर विचरण करने की विद्या सिर्फ संत जानते हैं । वह विद्या संपादन करने के लिए किसी संत का शिष्यत्व स्वीकार करना अति आवश्यक है ।

मन की आँखें खोल / १७९

गुरु पाहतां पाहतां लक्ष कोटी ।
 बहूसाल मंत्रावळी शक्ति मोठी ।
 मनीं कामना चेटकें धातमाता ।
 जनीं वेर्थ रे तो नव्हे मुक्तिदाता ॥१८०॥

बहूसाल = विविध, मंत्रावळी = उपासना के मंत्र, धातमाता = मंत्रत्र

समाज में अनेकानेक प्रकार के गुरु दिखाई देते हैं । उनके पास विविध प्रकार के मंत्र एवं कई महान शक्तियाँ होती हैं । परंतु उनके मन में वासनाएं भी होती हैं जिन्हें तृप्त करने के लिए वे अनेक विपरीत क्रियाएं करते हैं और सत्य असत्य कथा कहते हैं । ऐसे आडम्बर दिखलाने वाले गुरु अयोग्य और ईश्वरदर्शन कराने में असमर्थ होते हैं ।

विवेचन :

१, २) ढोंगबाजी पाखण्ड करना यह भारतीय अध्यात्म जीवन का एक अति पुराना रोग है । भारतीय अध्यात्म का वह एक प्रकार का कैंसर ही है ! बहुत से स्थानों पर यह रोग फैलने का कारण लोगों का, जनता का अज्ञान है । गेरूए वस्त्र पहनकर अधिक समय तक आँखें मूँदकर कोई ध्यानावस्था में बैठने लगे तो लोग उसे साधु महात्मा मानने लगते हैं । अपने सांसारिक गृहस्थ जीवन की इच्छाओं की पूर्ति के लिए अच्छे अच्छे सुशिक्षित स्त्री पुरुष उसकी सेवा करने लगते हैं । सच्ची साधुता कैसी होती है, उसे कैसे पहचाने, मनुष्य की कथनी, करनी में उसका प्रतिबिम्ब कैसे दिखता है, इसकी यथार्थ कल्पना किसी को भी नहीं रहती । इसी अज्ञान का परिणाम यह होता है कि विशेष अभ्यास करने पर कुछ चमत्कार का सामर्थ्य प्राप्त करने वाले बहुत से लोग उदरनिर्वाह के लिए गुरु होने का व्यवसाय करने लगते हैं ।

३, ४) धंधे की प्रथमावस्था में गुरुताई का प्रभाव दिखाई देता है । कुटिया वैभव सम्पन्न दिखाई पड़ती है । परंतु जब सारे समय लोग घेरने लगते हैं तो साधन शिथिल पड़ जाता है । फिर धीरे धीरे चमत्कार का सामर्थ्य क्षीण हो जाता है । और गुरु अपनी वासनापूर्ति के लिए अनुचित कर्म करता है और सच्ची-झूठी बातें बनाकर लोगों को धोखा देता है । ऐसे व्यक्ति की संगति में प्रभुदर्शन होना असम्भव है ! अतः ऐसे गुरु को अयोग्य एवं अक्षम समझना चाहिए । लालसा पूर्ण करने का दिलासा देने वाले कभी मोक्ष न दे पाएंगे ।

१८०/ मन की आँखें खोल

नव्हे चेटकी चाळकु द्रव्य भोंदू ।
 नव्हे निंदकु मछरू भक्तिमंदु ।
 नव्हे उन्मतु वेसनी संगबाधु ।
 जगी ज्ञानिया तो चि साधु अगाधु ॥१८१॥

चेटकी = बाजीगर, चाळकु = धूर्त, द्रव्यभोंदू = लोभी, वेसनी = व्यसनी, मछरू = ईर्षालु, अगाधु = असीम, संगबाधु = बहकानेवाला

बाजीगर, धूर्त, लालची, निंदा या ईर्ष्या करने वाला, मदांध, अप्रिय बोलने वाला, व्यसनी एवं दूसरों को बहकाने वाला अभक्त मनुष्य गुरु या सन्यासी हो ही नहीं सकता । जो आत्मज्ञानी है वही सच्चा साधु होता है और वही गुरुपद के लिए योग्य होता है ।

विवेचन :

१, २) यहाँ श्रीसमर्थजी ने गुरुपद के लिए अयोग्य व्यक्तियों के लक्षण बताया है । उन लक्षणों में से तीन लक्षण अधिक घातक हैं । लोगों को भुलावा देकर धन ठगने वाला, दूसरों की निंदा और ईर्ष्या करने वाला तथा अपनी संगत में दूसरों को भ्रष्ट करने वाला मनुष्य कभी साधु नहीं हो सकता । जिस व्यक्ति में साधुत्व का, सज्जनता का उदय होता है उसकी धन लालसा सबसे पहले क्षीण हो जाती है । साथ ही अन्य व्यक्तियों के अंतःकरण में उसे प्रभु की सत्ता दिखाई देती है । अतः निंदा और ईर्ष्या करने की उसकी प्रवृत्ति नहीं रहती । वस्तुतः वह सोचता है कि दूसरों की निंदा करने का अर्थ है कि प्रभु की निंदा करना । साधु का, संत का मानसिक स्तर श्रेष्ठ होने के कारण उनके सहवास से अन्य लोगों का मानसिक स्तर भी ऊँचा, उन्नत होना अपरिहार्य है । सत्संगति की यही महिमा है ।

३, ४) आत्मसाक्षात्कार होने से, मन में सबके लिए अपार स्नेह होना साधु तथा गुरुपद के लिए सुयोग्य मनुष्य का एकमेव प्रधान लक्षण है । आत्मसाक्षात्कारी मनुष्य का ज्ञान अनंत होता है । कल्पना से उसके ज्ञान की गहराई का आकलन नहीं होता । देह से वह सामान्य मनुष्य की भांति दिखता है किन्तु उसका विचारप्रवाह अगाध, अथाह होता है । उसे मद्यमांसमैथुनादि व्यसनों का स्पर्श भी नहीं होता । वह अपनी ख्याति से उन्मत्त नहीं बनता । जो दूसरों की निंदा किए बगैर सबकी आध्यात्मिक प्रगति के लिए अपार यत्न करता है, ऐसे गुरु से साधक को मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए ।

मन की आँखें खोल / १८१

नव्हे वाउगी चाहुटी काम पोटीं ।
 क्रियेवीण वाचाळता ते चि मोठी ।
 मुखें बोलिल्यासारखें चालताहे ।
 मना सदगुरू तो चि शोधूनि पाहे ॥१८२॥

वाउगी = व्यर्थ, चाहुटी = अनर्गल बोलना, वाचाळता = बकबक

जिसका अंतःकरण वासना में लिप्त है, जो अनुचित बोल बोलता है, जो बड़ी बड़ी बातें करता है पर कृतिशून्य है ऐसा व्यक्ति गुरुपद के लिए अयोग्य है । जो वाणी से, मुख से आत्मज्ञान बताता है और उसी तरह प्रत्यक्ष स्वतः आचरण करता है, जिसकी कथनी और करनी एक सी होती है, ऐसा सदगुरू ढूँढना चाहिए ।

विवेचन :

१) अज्ञानी और ज्ञानी इनमें यही अन्तर है कि देहबुद्धि के कारण अज्ञानी मनुष्य वासना में डूबा रहता है, तो आत्मबुद्धि के कारण ज्ञानी महात्मा वासनाहीन होता है । कथनी करनी एक जैसी न होना यही वासना के प्रभाव का व्यक्त स्वरूप है । ऐसा गुरु भला शिष्य को कैसे वासना विहीन करेगा । अतः वह गुरुपद के लिए अपात्र, अयोग्य होता है ।

२) उत्तम कथा कहने वाला, गुण गाने वाला और गुणी व्यक्ति में काफी अंतर होता है । देश के लिए वीरगति को प्राप्त होने वाले और उसकी वीरता की कहानी छापने वालों में बृहद अंतर होता है । दूसरों को उपदेश करना आसान है । अपनी भाषा की श्रेष्ठता और वाक्पटुता से दूसरों को प्रभावित करना भी आसान हो सकता है । परंतु निभीकता से श्रेष्ठ सत्य के मार्ग पर चलना और दूसरों को तत्परता से मार्गदर्शन करना आसान नहीं ! ऐसे प्रतिभावान सत्शील सदगुरू अभाव से मिलते हैं ।

३, ४) जिसकी वासना संपूर्ण नष्ट हो चुकी है ऐसे श्रेष्ठ व्यक्ति का अपने मन पर सम्पूर्ण स्वामित्व होता है । उसकी कथनी और करनी सम अर्थात् एक जैसी रहती है । वह अपने आचरण द्वारा अपने कथनों को सत्य स्वरूप में उतारता है । ऐसा व्यक्ति ही गुरुपद के लिए योग्य होता है क्योंकि शिष्य की वासना क्षीण बनाने का सामर्थ्य उसके पास होता है और 'कथनी करनी सम रहे' इसका आदर्श वह स्वयं उसे दिखाता है । ऐसा गुरु आसानी से हर जगह नहीं मिलता । अतः साधक के लिए उसे ढूँढना अति आवश्यक है ।

जनीं भक्त ज्ञानी विवेकी विरागी ।
 कृपाळु मनस्वी क्षमावंत योगी ।
 प्रभु दक्ष वित्पन्न चातुर्य जाणे ।
 तयाचेनि योगें समाधान बाणे ॥१८३॥

मनस्वी = उच्च विचार वाला, वित्पन्न = बहुश्रुत

जो भक्ति, ज्ञान, विवेक तथा वैराग्य से सम्पन्न है, जो क्षमाशील तथा बहुत दयालु है, जो योगी है, जो श्रेष्ठ व्यवहार करता है, जो बहुश्रुत, जागृत, सावधान एवं चतुर है, ऐसा व्यक्ति गुरुपद के लिए सुपात्र होता है । उसके सहवास में परम् सन्तोष, समाधान प्राप्त होता है ।

विवेचन :

१, २) मनुष्य की दो अवस्थाएं हैं । एक ज्ञानावस्था और दूसरी अज्ञानावस्था । आत्मज्ञानी व्यक्ति की ज्ञानावस्था होने से वह गुरुपद पर विराजमान होने के लिए सुपात्र होता है । ज्ञानदशा में कुछ गुणों का स्वाभाविक अविष्कार होता है । उदा : जिसे आत्मदर्शन होता है वह श्रद्धावान, ज्ञानवान तथा विवेक - वैराग्य संपन्न भक्त होता है । ये सब आंतरिक लक्षण होते हैं । इनके प्रभाव से आत्मज्ञानी व्यक्ति अति क्षमाशील तथा बहुत ही दयालु होता है । उसकी वृत्ति दृढ़ एवं स्थिर होने से वह दिनरात आत्मरूप के सान्निध्य में रहता है ।

३, ४) सदगुरू के लिए कुछ विशेष श्रेष्ठ गुण आवश्यक हैं । भिन्न स्वभाव के, भिन्न आयु के, भिन्न मानसिक स्तर के स्त्री-पुरुषों के साथ समूह में और अकेले में व्यवहार करना आसान कार्य नहीं है । शिष्यों को उचित मार्गदर्शन करके आत्मोन्मुख बनाए रखने के लिए सदगुरू श्रेष्ठ आचरण वाला, बहुत सावधान वृत्ति का, बहुश्रुत तथा अति चतुर होना चाहिए । ऐसे सदगुरू का सहवास प्राप्त होने से वासना निर्बल हो जाती है और साधक लक्ष्य की ओर संतोष वृत्ति से आगे बढ़ता है । सदगुरू का अधिकार चाहे जितना श्रेष्ठ हो, फिर भी साधक की प्रगति उसकी निष्ठा पर, उसके साधनाभ्यास और लगन पर निर्भर करती है । सदगुरू उचित मार्गदर्शन करता है, मार्ग में साथ देता है, सहायक बनता है परंतु पथिक बनकर चलने का कार्य स्वयं साधक को ही करना पड़ता है । आत्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार होने तक बिना विवाद के साधन करना यही सदगुरू की कृपा का लक्षण है ।

नव्हे तें चि जालें नसे तें चि आलें ।
 कळों लागलें सज्जनाचेनि बोलें ।
 अनिर्वाच्य तें वाच्य वाचे वदावें ।
 मना संत आनंत शोधीत जावें ॥१८४॥

नव्हे = जो अस्तित्व में नहीं है, अनिर्वाच्य = जिसका वाणी से वर्णन करना असंभव हो, वाच्य = वाणी का विषय होने योग्य

आदि परमात्मस्वरूप में विश्व नहीं था । परंतु वहाँ उसका निर्माण हुआ । उसका कोई भी व्यक्त आकार नहीं था । परंतु उसे एक निश्चित आकार प्राप्त हुआ । संतों के सहवास में ये सब बातें समझ में आने लगती हैं । वस्तुतः परमात्म स्वरूप वाणी का विषय तो हो ही नहीं सकता । परंतु शब्दों द्वारा संत उसे वाणी का विषय बनाने का प्रयत्न करते हैं । रे मन, नित अव्यक्त परमात्मस्वरूप की खोज का प्रयास कर ।

विवेचन :

१) परमात्मा ज्ञानमय है । उसके पास अज्ञान है ही नहीं । परंतु मानवीय जीवन में जैसे ज्ञान का अनुभव आता है वैसे ही अज्ञान का भी अनुभव आता है । इसका अर्थ यह हुआ कि आदि स्वरूप में जो नहीं था उसका प्रादुर्भाव हुआ । हमारे अज्ञान के कारण हमें विश्व दिखाई देता है ।

२) विश्व को हम ज्ञानी और अज्ञानी दो दृष्टियों से देख सकते हैं । परमात्म - स्वरूप में जगत को देखने से यह विश्व ईश्वर का संकल्प ज्ञात होता है । यह सच है कि ईश्वर के संकल्प से विश्व का निर्माण हुआ परंतु वह अप्रकट सूक्ष्म अवस्था में था । अज्ञान की दृष्टि में अव्यक्त विश्व शून्य समान प्रतीत होता है । सत्संग हमें माया और सत्य की भिन्नता पहचानना सिखाता है ।

३,४) अतीन्द्रिय आत्मवस्तु वाणी का सुलभ विषय नहीं ! अज्ञानी मनुष्य को परमात्मा की कल्पना कराने के लिए संत वाणी का विषय बना देते हैं । ईश्वर के विषय में सोचना, सुनना साधुत्व का पहला पायदान है । परमात्मवस्तु का ऐश्वर्य संतों के मुख से सुनना साधक का परम भाग्य है । संतों का परमात्मज्ञान अति स्पष्ट तथा पूर्ण होता है । अतएव साधक को सदैव सत्संगति और सद्गुरु के मार्गदर्शन में ईश्वर की खोज करनी चाहिए ।

लपावे अती आदरें रामरूपीं ।
 भयातीत निश्चित ये सस्वरूपी ।
 कदा तो जनीं पाहतां ही दिसेना ।
 सदा ऐक्य तो भिन्नभावे वसेना ॥१८५॥

लपणे = गुप्त होना, रामरूपी = परमात्मस्वरूप में, सस्वरूप = आत्मरूप, भयातीत = निर्भयता का प्राप्तिस्थान, भिन्नभावे = द्वैतभाव से

हम मनःपूर्वक परमात्मस्वरूप से एकरूप हो लें या यूँ कहें कि उस अगाध परमेश्वर की लीला के पीछे अपने अस्तित्व को छिपा लें । वह आत्मस्वरूप सब प्रकार के भय तथा चिंताओं के परे है । लोग आत्मा को देखने का प्रयास करते हैं पर वह किसी की आँखों को दिखाई नहीं देती । वह पृथकता से, द्वैतभाव से कहीं नहीं है ।

विवेचन :

१, २) स्वस्वरूप में छिपने की कल्पना स्वरूपानुभूति की दृष्टि से बहुत ही अर्थपूर्ण है । गुप्त होकर रहने में ही छिपने का सच्चा मर्म है । छिपने की अवस्था में मनुष्य वहाँ होकर भी न होने के बराबर होता है । आत्मानात्म विवेक द्वारा अनात्म दूर करने पर जीव अपने आप ही लुप्त होता है, वह सहजता से ही स्वस्वरूप में लीन होता है । निद्रावस्था में अहं लुप्त होने का अनुभव हर एक को होता है । यहाँ जागृतावस्था में विवेक की सहायता से अहं को स्वस्वरूप में विलीन करना है । स्वस्वरूप सभी प्रकार के डर से और सभी चिंताओं से भी मुक्त रहता है । चिंता का क्षीण हो जाना ही आत्म-स्वरूप से समरस होने की, एकरूप होने की विश्वसनीय कसौटी है ।

३, ४) स्वस्वरूप में छिपा हुआ, लुप्त हुआ व्यक्ति देह से संसार में रहता है । लोग समझते हैं कि वे उसे देख रहे हैं । परंतु सच में वह किसी को दिखाई नहीं देता । स्वस्वरूप से वह पृथक रहता ही नहीं । कहने का भावार्थ यह है कि सामान्यतः मनुष्य की देह देखने मात्र से इस मनुष्य को हमने देखा ऐसा हम कहते हैं । परंतु जिस मनुष्य का अहं देह से अलग होकर स्वस्वरूप में विलीन होता है वह देह के साथ नहीं रहता । उसकी देह देखकर उसके अंतःकरण की सच्ची अवस्था की कल्पना किसी को नहीं हो सकती । परमात्मस्वरूप में लीन साधक अखण्ड सत् चित् आनन्द अनुभव करता है ।

सदा सर्वदा राम सन्नीध आहे ।
मना सज्जना सत्य शोधूनि पाहें ।
अखंडीत भेटी रघुराज योगु ।
मना सांडि रे मीपणाचा वियोगु ॥१८६॥

स्वस्वरूप निरंतर सर्वदा हमारे बिल्कुल निकट है । रे सज्जन मन ! उसे तुम ठीक से ढूँढ लो । इस स्वरूप से, प्रभु से तुम्हारा निरंतर निकट संबंध, लगाव होना चाहिए । रे मन ! अहं से उत्पन्न अलगाव एवं भिन्नता तुम त्याग दो ।

विवेचन :

१) जो जीवधारी होगा उसके अंतरंग में, अंतःकरण में आत्मस्वरूप होता ही है । जीव की सभी अवस्थाओं में वह स्वयं प्रकाशित स्वरूप, जैसा विद्यमान है वैसा ही स्थिर रहता है । हमें अपने भीतर, अंतःकरण में गहराई तक उतरकर उसकी खोज करनी चाहिए । जागृति, स्वप्न तथा गहरी निद्रा इन तीन अवस्थाओं के परे जाने पर हमें उस स्वरूप का दर्शन होगा ।

२) सत्य कहीं दूर जाकर नहीं ढूँढना है । न ही किसी गूढ़ विज्ञान का शोध करना है । अपनी ही चीज अपने ही पास है, बस उसे ही खोजना है । परमात्मा सत्य है और सब जगह है यानि अपने निकट ही उसका वास है । उसको खोजना अर्थात् उसको सदा याद रखना है । गुरुत्वाकर्षण का नियम सिद्ध करने में भले ही कष्ट हुआ हो पर अब उसे ध्यान में रखकर मनुष्य ने काफी तरक्की कर ली है । वैसे ही नित्य प्रति क्षण बस यह ध्यान में रख कर सारे कार्य करने हैं कि प्रभु हमारे पास है और वही सत्य है ।

३,४) श्रीराम यानि प्रभु नित्य निरंतर हमारे पास हैं । हमारी आत्मा जो उन्हीं का अंश है हमारा अपना वास्तविक स्वरूप है । तो उससे हमारा वियोग कैसे सम्भव है । परंतु हमारा अहं इसमें बाधा बनता है । स्वयं को वह अपने से अलग करता है । वह अहं नष्ट होने पर, दूर हटाने पर मूल एकता निश्चित रूप से सिद्ध है । अहंकार छोड़ने में ही भलाई है, सज्जनता है । अपनी विशिष्टता बनाए रखना, अपने आप को श्रेष्ठ समझना, अपने स्वार्थ को महत्व देना यानि अपने आप को दूसरों से अलग समझना - प्रभु से अलग करना ! अगर हम अपना सुख दुख सबसे बांटें, तो हम विचारों से उन्नत होंगे । अपना अस्तित्व सबके बीच खोना यही प्रभु मिलन का रहस्य है ।

भुतें पिंड ब्रह्मांड हें ऐक्य आहे ।
परी सर्व ही सस्वरूपीं न साहे ।
मना भासलें सर्व काहीं पहावें ।
परी संग सोडोनि सूखी रहावें ॥१८७॥

पंचमहाभूतों, जीवप्राणीयों और विश्व में एकता है । सबका शाश्वत स्वरूप वास्तव में भिन्न अस्तित्व नहीं रखता । अतः मन को जो कुछ अनुभव होता है, इंद्रियों को जो प्रतीत होता है उसे अलिप्त भाव से जानें । साधक को चाहिए कि आसक्ति की भावना से जग में न उलझकर स्वानंद में मग्न रहे ।

विवेचन :

१) जिस विश्व में हम जन्म लेते हैं, जीवित रहते हैं और अन्त में मर जाते हैं वह विश्व पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचमहाभूतों से बना है । सचेतन और अचेतन में विविध तरह का भेद दिखाई देता है । फिर भी अंत में पंचमहाभूत ही सबकी रचना के मूलद्रव्य या आदितत्व हैं ।

२) विश्व में जिस तरह सचेतन और अचेतन का भेद दिखाई देता है उसी तरह स्वरूप की, अनुभव की दृष्टि से शाश्वत और अशाश्वत का भेद दिखाई देता है । स्वस्वरूप शाश्वत तो पंचभूतों सहित संपूर्ण विश्व अशाश्वत है ऐसा संतों का अनुभव है । परंतु अशाश्वत का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है । यानि स्वस्वरूप में उसका निरा आभास होता है ।

३,४) ज्ञानावस्था में स्वस्वरूप की अनुभूति के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की अनुभूति नहीं रहती । परंतु अज्ञानावस्था में अन्य अनुभूतियां प्रमुख रहती हैं । अतः इंद्रियों द्वारा मन तक पहुँचने वाले दृश्य विश्व का अनुभव सत्य न होकर आभास मात्र है - ऐसी दृढ़ भावना से उसे देखना चाहिए । इन अनुभवों को नित्य जीवन से हटा नहीं सकते परंतु अनासक्त, अलिप्त हो कर स्वस्वरूप के आनंद में मग्न रहने का प्रयास कर सकते हैं । श्रीसमर्थजी का कहना है कि मन को अनुभूत होने वाला पंचभूतात्मक जगत् स्वयं ही किसी को बाधा नहीं पहुँचाता । उसके मोह में विवश मन संसार से सुख प्राप्ति की भ्रांति पालने से मोक्ष की राह में संकट उत्पन्न करता है ।

देहेभान हें ज्ञानशास्त्रें खुडावें ।
विदेहीपणे भक्ति मार्गे चि जावें ।
विरक्तीबळें निंद्य सर्वें तजावें ।
परी संग सोडोनि सूखी रहावें ॥१८८॥

देहेभान = “मैं देह हूँ” ऐसा बोध, ज्ञानशास्त्र = “मैं आत्मा हूँ” इसका ज्ञान

मैं आत्मा हूँ, इस ज्ञान से मैं देह हूँ यह धारणा तोड़ देनी चाहिए, नष्ट करनी चाहिए । देह का बोधस्मरण नष्ट कर के आत्मस्वरूप के अनुसंधान में रहना चाहिए । मन से अनासक्त होकर विषयों का सम्पूर्ण त्याग करना चाहिए । दृश्य में सत्यता है इस विचार में उलझे बिना स्वानंद में रहना चाहिए ।

विवेचन :

१) आज हमें सिर्फ देह का स्मरण है । “मैं देह नहीं हूँ” ऐसा कहते कहते देह का विस्मरण होने की अपेक्षा उसका स्मरण दृढ़ होता जाता है । अतः “मैं आत्मा हूँ” ऐसा निरंतर स्मरण रखने से देह का विस्मरण आप ही होता है ।

२) श्रीसमर्थजी का भक्तिमार्ग का विचार अति सूक्ष्म तथा गहरा है । जो प्रभु से कभी विभक्त नहीं होता वही भक्त है । प्रभु से निरंतर एकरूप हो जाने का जो अभ्यास है वही भक्तिमार्ग है । अपने देह के विस्मरण के सिवा कोई भी भक्त नहीं बन सकता कोई भी भक्ति का अभ्यास नहीं कर सकता । जागृतावस्था में स्वस्वरूप के अनुसंधान में स्वयं का विस्मरण किस प्रकार करना चाहिए यही तो संत एवं सद्गुरु सिखाते हैं ।

३,४) विरक्ति शब्द उच्चारते ही संन्यासी या उदासीन आदि विशेषणों की स्मृति जागती है । यह झूठ नहीं है कि संन्यासी विरक्त होता है परंतु जो विरक्त होता है वह संन्यासी भी होना चाहिए या उसे वन गमन करना चाहिए ऐसा कुछ नियम नहीं है । जिन विचारों से, जिन क्रियाओं से देहबुद्धि बढ़ती है वे सब निंद्य हैं । विरक्ति का अर्थ आसक्ति न होना परंतु यह नहीं कि मन में सबके लिए द्वेष पालें या किसी से बात न करें, कोई काम न करें, सिर्फ माला जपते रहें । विरक्त सभी निंद्य वस्तुओं का त्याग कर अपनी देहबुद्धि क्षीण बना कर सन्यस्त जीवन आनंद के साथ व्यतीत करते हुए कर्तव्यपूर्ति कर सकता है । उसके विचारों में परमेश्वर की स्मृति निरंतर बनी रहती है ।

मही निर्मिली देव तो वोळखावा ।
जया पाहतां मोक्ष तत्काळ जीवा ।
तथा निर्गुणालागि गूणीं पहावें ।
परी संग सोडोनि सूखी रहावें ॥१८९॥

मही = पृथ्वी

जिस प्रभु ने यह सृष्टि निर्माण की उसे जानना, पहचानना चाहिए । ईश्वर दर्शन होते ही जीव मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है । ईश्वर निर्गुण है और सारे विश्व में व्याप्त है । साधक को उसे त्रिगुणों की भीड़भाड़ में खोजना चाहिए और अवास्तविक दृश्यों में न उलझते हुए स्वानंद में रहना चाहिए ।

विवेचन :

१) इस सृष्टि की रचना जिसने की उस आदिकारण ईश्वर का हेतु ढूँढते हुए मन में अनिश्चितता, अस्थिरता उत्पन्न होती है । ईश्वर स्वयंभू है अर्थात् स्वयं ही स्वयं का कारण होने वाला । ईश्वर को हम विशिष्ट स्थलों में, विशिष्ट आकारों में ढूँढते हैं । ईश्वर की महत्ता बताने के लिए हम चमत्कारों का आश्रय लेते हैं । ईश्वर को हम तब महान समझते हैं जब वह हमारी मनोकामनाएं पूरी करे । वास्तविकता यह है कि हम ईश्वर को जानते नहीं और जानना चाहते भी नहीं ।

२) ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ है । उसकी तुलना में मनुष्य तिनके से भी क्षुद्र हुआ । अगर अपने घर की समस्या सरकारी अधिकारियों तक ले जाना हम ठीक नहीं समझते तो फिर अपनी समस्याएं लेकर ईश्वर के आगे जाना कितना हास्यास्पद होगा ! उस ईश्वर की महत्ता को जानना ही ईश्वरी साक्षात्कार है और उसी से जीव सम्पूर्ण ज्ञानी बनता है । और उस ज्ञान के स्वाभाविक परिणाम से जीव सारे प्रश्नविलासों से मुक्त हो सकता है ।

३,४) विश्व में और ईश्वर में मूलतः अंतर नहीं है । विश्व तो ईश्वर का स्वप्न है । मनुष्य स्वप्नावस्था में दृश्य और दृश्यों को देखनेवाला द्रष्टा दोनों बनता है । उसी तरह ईश्वर ने जब आदि संकल्प किया तब एक ओर ईश्वर पंचभूतात्मक विश्व बना और दूसरी ओर शिवरूप से विश्व का साक्षी बना । अतः ईश्वर निर्गुण होते हुए भी गुणमय विश्व में व्याप्त है । साधक को चाहिए कि वह विश्व के सगुण रूप में उपस्थित निर्गुण को पहचाने । इसके लिए उसे सगे संबंधियों और नश्वर वस्तुओं के मोह से दूर रहना होगा ।

नव्हे कार्यकर्ता नव्हे सृष्टिभर्ता ।
 परेहूनि पर्ता न लिंपे विवर्ता ।
 तथा निर्विकल्पासि कल्पित जावें ।
 परी संग सोडोनि सूखी रहावें ॥१९०॥

कार्यकर्ता = रचयिता, सृष्टिभर्ता = पालनकर्ता, परा = परावाणी, परता = परे, न लिंपे = निर्लिप्त, निर्विकल्प = कल्पनाओं के परे, विवर्त = भ्रम,

परमात्मा कार्यकारण भाव से परे है। वह विश्व का पालनकर्ता है, यह मानवीय कल्पना है। वह परावाणी के भी परे है। सभी कल्पनाओं के परे स्थित उस प्रभु का विचार हमें करना चाहिए और मोह में न उलझते हुए स्वानंद में मग्न रहना चाहिए।

विवेचन :

१) सागर में लहरें आती जाती हैं, लुप्त होती रहती हैं। बिल्कुल उसी प्रकार आनंद समुद्र में अनेक सांसारिक व्यक्ति तथा वस्तुएं दिखती हैं और लुप्त हो जाती हैं। परंतु मनुष्य कालानुक्रम के अनुसार विचार कर के कहता है कि ब्रह्मा जगत निर्माता है, विष्णु उसका पालनकर्ता है, और शिव उसका संहारक है। मनुष्य की कल्पना से निर्माण की हुई इस त्रिमूर्ति का परमात्मस्वरूप से सिर्फ काल्पनिक संबंध है।

२) मनुष्य संसार में सब जगह शक्ति का प्रभाव अनुभव करता है। शक्ति के अनेक प्रकारों में वाणी की शक्ति अति सूक्ष्म और प्रभावशाली होती है। परावाणी वाणी का शुद्ध तथा पूर्ण स्वरूप है। उसी को शारदा कहते हैं। शक्ति को अधिष्ठान की, आधार की आवश्यकता होती है। ईश्वर को शारदादेवी का अधिष्ठान मानते हैं। परमात्मस्वरूप इन दोनों के परे है।

३,४) वस्तुतः एक परमात्मस्वरूप के अतिरिक्त दूसरा अस्तित्व ही नहीं है। परंतु हमें सारा विश्व दिखाई देता है। विश्व इस परमात्मस्वरूप का विवर्त यानि आभास मात्र है। जैसे रस्सी को हम साँप समझे या हार इससे रस्सी को फर्क नहीं पड़ता उसी प्रकार विश्व को सत्य माने या न माने, परमात्मस्वरूप को फर्क नहीं पड़ता। कल्पना सम्पूर्ण नष्ट किए बिना परमात्म दर्शन नहीं हो सकता। जो निर्विकल्प है उसकी कल्पना करने लगे तो अपने आप ही कल्पना लुप्त होती है। अतः साधक को इस दृश्य जगत् के झमेले में कल्पना को उलझाने की अपेक्षा उसे परमात्मस्वरूप की ओर उन्मुख करना चाहिए।

देहेबुधिचा निश्चयो ज्या टळेना ।
 तथा ज्ञान कल्पांत काळीं कळेना ।
 परब्रह्म ते मीपणें आकळेना ।
 परी शून्य अज्ञान हें मावळेना ॥१९१॥

ज्ञान = आत्मज्ञान, कल्पांतकाळी = विश्व के अन्त समय तक, शून्य = अज्ञानाकाश, मावळेना = निवृत्त नहीं होता = हटता नहीं

मैं देह ही हूँ ऐसा निश्चय जिसके अंतःकरण से हटता नहीं उसे कभी भी ब्रह्मज्ञान होना संभव नहीं ! जब तक अहम् है, तब तक परब्रह्म का ज्ञान नहीं होगा। अज्ञान निवृत्त हुए बिना मन ज्ञानप्रकाश नहीं देख पाता।

विवेचन :

१, २) देह अनात्मा होने के कारण मैं देह ही हूँ यह भावना, यह विचार “मैं आत्मा हूँ” इस भावना के सदा विपरीत होता है। अतः मैं देह ही हूँ यह भावना मन में दृढ़ रखकर युगों तक यत्न करें तो भी आत्मज्ञान होना संभव नहीं है। हम देखते हैं कि हजारों लोग ईश्वर के, प्रभु के पीछे पड़ते हैं। परंतु उनमें से कोई बिरला ही आत्मज्ञानी होता है। इसका कारण स्पष्ट है। हजारों में कोई एक ही देहबुद्धि नष्ट करने के लिए उद्यत होता है। निष्ठा पूर्वक साधन करके देहबुद्धि समाप्त होने पर आत्मज्ञान उदित होता है।

३) वस्तुतः आत्मा की ओर से विचार करें तो अज्ञान कभी निर्माण हुआ ही नहीं। मनुष्य के मन ने मैं अलग हूँ ऐसी अहंकारमय कल्पना दृढ़ता से जतन की। इस कल्पना से ज्ञान ढँक गया। अहंभाव के कारण पृथकता रहती है। और जब तक पृथकता है तब तक आत्मज्ञान होना असंभव है। जिस प्रकार सहज सुलभ आरोग्य मनुष्य मिथ्या आहार द्वारा दुर्लभ बना देता है वैसे ही सहज सुलभ आत्मसाक्षात्कार मिथ्या अहं को बीच में लाकर असंभव श्रेणी में ला खड़ा करता है।

४) मनुष्य जानता है कि उसकी और सभी सगे संबंधीयों की देह नश्वर है, फिर भी नित्य शोक मनाता है। वह जानता है कि क्षणिक इंद्रिय सुखों के पीछे भागकर शाश्वत आनंद नहीं पा सकता फिर भी मोह जीत नहीं पाता ! सुख की लालसा में दर दर ठोकरें खाता भटकता फिरता है पर शांतचित्त से अपने अंतःकरण में ज्ञांक आत्मबल को पहचानने की कोशिश नहीं करता। अपने अज्ञान का आवरण मनुष्य ने स्वयं ही ओढ़ रखा है।

मना ना कळे ना ढळे रूप ज्याचें ।
दुजेवीण तें ध्यान सर्वोत्तमाचें ।
तया खूण ते हीण दृष्टान्त पाहे ।
तेथे संग निसंग दोन्ही न साहे ॥१९२॥

दुजेवीण = अलगाव के बिना, सर्वोत्तम = परमात्मस्वरूप, हीण = तुच्छ,
खूण = संकेत,

अपरिवर्तनशील शाश्वत, व्यापक परमात्मस्वरूप का आकलन मन को नहीं होता । सिर्फ अभिन्नता से, अखण्ड रूप से उस सर्वोत्तम प्रभु का ध्यान करने से वह प्राप्त हो सकता है । संकेत से परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करें तो वह दृष्टांत अधूरा होता है । परमात्मा के आश्रय में आसक्ति-अनासक्ति, संग-निःसंग दोनों कल्पना स्थायी नहीं रह सकती ।

विवेचन :

१) हमारा मन अज्ञान का प्रमुख साधन है । द्रष्टा और दृश्य के बीच भिन्नता का भाव रखना मन का स्वभाव है । अतः द्वैत के सिवा उसे वस्तु का आकलन करना नहीं आता । मन की विशाल कल्पना शक्ति परमात्मा को समझ नहीं पाती परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि उसका अस्तित्व ही नहीं !

२) दृश्य वस्तु का ध्यान करना कठिन नहीं होता क्योंकि उसे पृथक देखना सम्भव होता है । परंतु परमात्मा का स्वरूप अतीन्द्रिय तथा सूक्ष्म है । अतः उसका ध्यान द्वैतभाव से, पृथकता से नहीं कर सकते । प्रभु से तदाकार, एकरूप होकर ही उसका सच्चा ध्यान हो सकता है । जैसे बूँद सागर से मिले वैसे ही भक्त प्रभु के ध्यान में एकचित्त, एकरूप हो जाता है ।

३,४) प्रभु साक्षात्कार का वर्णन अतुलनीय है । कोई उपमा, कोई उदाहरण या रूपक यथार्थ वर्णन के लिए अधूरा एवं अपूर्ण होता है । भाषा, दृष्टान्त तथा संकेतों का उपयोग भाव-अभाव, श्रद्धा-अश्रद्धा अस्ति-नास्ति के तर्क अनुमान और सापेक्षता के आधार पर है । परंतु परमात्मा का स्वरूप इन सबके परे होने के कारण सभी शब्द वहाँ अर्थहीन हो जाते हैं । उदा : संग अर्थात् आसक्ति यह विचार निःसंग अर्थात् अनासक्ति इस विचार का सापेक्ष है । सच्चिदानंद ब्रह्म सापेक्ष कल्पनाओं के परे है । उसे जानने के लिए कहीं दूर ढूँढने की नहीं बल्कि उसक निरंतर ध्यान करने की आवश्यकता है ।

नव्हे जाणता नेणता देवराणा ।
नये वर्णिता वेदशास्त्रां पुराणां ।
नव्हे दृश्य अदृश्य साक्षी तथाचा ।
श्रुति नेणती नेणती अंत त्याचा ॥१९३॥

जाणता = ज्ञानी, नेणता = अज्ञानी देवराणा = परमात्मा

परब्रह्म के पास ज्ञान, अज्ञान जैसा कुछ नहीं है । वेद, पुराण उसका वर्णन नहीं कर पाते । परमात्मा के दृश्य या अदृश्य होने का कोई साक्षी नहीं है । श्रुति मीमांसक भी उसका पार न पा सके ।

विवेचन :

१) मनुष्य दोहरे जगत में जीता है । एक जगत देह तथा दृश्य वस्तुओं का और दूसरा जगत मन और अदृश्य संकल्पनाओं का है । दृश्य जगत मर्यादित और सीमित है किन्तु अदृश्य जगत असीम है । मनुष्य की सभी संकल्पनाएं सापेक्ष होती हैं । जहाँ सापेक्षता है वहाँ संबंध है । परंतु परमात्मा सभी संबंधों के परे है । अतः ज्ञान और अज्ञान, परिमित और अनंत, दृश्य और अदृश्य, स्थूल और सूक्ष्म आदि से संलग्न परिमित कल्पनाएं उसके पास नहीं होती ।

२) जड़-चेतन के गुणों से बढ़चढ़ कर कोई एक शक्ति विद्यमान है जिसे मानव नहीं समझ पाता इतना ही परमात्मा का तुलनात्मक वर्णन सामान्य मनुष्य कर पाता है । किसी चीज को जानने के लिए वह चीज और जाननेवाला दो अलग रूप हुए परंतु जहाँ सर्वत्र एक ही रूप का विस्तार हो वहाँ जानना कैसा । यही कारण है कि वेद पुराण भी परमात्मा का अचूक वर्णन नहीं कर पाए ।

३,४) जिस प्रकार दिन के व्यवहारों का सूर्य साक्षी है, उसी प्रकार आत्मा विश्व की साक्षी है । कोई मनुष्य एकांत में सोता है, कब सोया इसका ज्ञान उसे नहीं किन्तु सोकर उठने के बाद वह सोया था इसका ज्ञान मनुष्य को बखूबी रहता है ! वह जानते हुए भी अज्ञानी रहा । उसे किसी ने सोते हुए देखा नहीं सो वह अदृश्य रहा परंतु उसका अस्तित्व यथार्थ है अतः वह दृश्य हुआ । निर्लिप्त होने की कल्पना लिप्तता के सापेक्ष है । अतः साक्षीभाव से परे जाना होगा । सारांश यह कि मनुष्य परब्रह्म के संबंध में मानवता की पार्श्वभूमि पर जो अनेक कल्पनाएं करता है वे सही नहीं रहतीं । श्रुति ग्रन्थ भी इसे पूरी तरह नहीं समझ पाए ।

वसे हृदयीं देव तो कोण कैसा ।
पुसे आदरें साधकु प्रश्न ऐसा ।
देहे टाकितां देव कोठे रहातो ।
परी मागुता ठाव कोठें पहातो ॥१९४॥

पुसे = पूछता है, टाकितां = छूटने पर, ठाव = आश्रय, मागुता = वापस

शंकित साधक आदरपूर्वक ऐसा प्रश्न पूछता है कि - हृदय में जो प्रभु निवास करता है वह कौन है और कैसा है ? देह छूटने पर वह प्रभु कहाँ रहता है ? और फिर वह कहाँ जन्म लेता है ?

विवेचन :

१) किसी भी तर्कशुद्ध तत्वज्ञान को इन तीनों प्रश्नों का उत्तर खोजना पड़ता है। (प्रथम - मनुष्य कहाँ से जन्म लेता है ?), (द्वितीय - उसके जीवन में अनाहूत दुःख क्यों ?) और (तृतीय - मृत्यु के पश्चात उसका क्या होता है ?) पते की बात यह है कि मृत्यु का गूढ़ रहस्य खुल जाने पर तो सभी समस्याएं एक साथ हल हो जाएंगी। अध्यात्मशास्त्र में अनेक प्रकार से मृत्यु के बारे में विचार किया गया है। श्रीसमर्थजी ने यहाँ केवल प्रभुकल्पना से संबंधित अंगों का विचार किया है।

२) साधक के प्रश्न की पार्श्वभूमि ऐसी है - शास्त्र कहता है कि प्रत्येक मनुष्य के हृदय में प्रभु वास करता है। अभी तक ईश्वर के स्वरूप का जो वर्णन पढ़ने सुनने को मिलता है उस का विचार करने पर वह मनुष्य के हृदय में कैसे रहता होगा यह समझ में नहीं आता। अतः हृदय में स्थित प्रभु का स्वरूप समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

३,४) इसके अतिरिक्त जिज्ञासु साधक यह भी सोचता है कि अगर ईश्वर को देह का आधार होगा तो मृत्यु आने पर, देह छूटने पर ईश्वर की अवस्था क्या होती है ? देह के भीतर और देह के बाहर उसके स्वरूप में, स्थिति में क्या परिवर्तन आता है ? क्या उसे फिर से नयी देह का आधार प्राप्त होता है ? और अगर वह प्राप्त होता है तो कैसे प्राप्त होता है, क्या वह स्वयं खोजता है ? ये और ऐसे अनगिनत सवाल मन में उठते हैं। प्रत्येक साधक अपनी इन गहरी न सुलझने वाली समस्याओं का समाधान गुरु के पास करना चाहता है।

वसे हृदयीं देव तो जाण ऐसा ।
नभाचे परी व्यापकु जाण तैसा ।
सदा संचला येत ना जात कांहीं ।
तयावीण कोठें रिता ठाव नाहीं ॥१९५॥

व्यापक = चारों ओर फैला हुआ, रिता = रिक्त ठाव = जगह

हृदय में जो प्रभु रहता है वह आकाश की तरह सब जगह व्याप्त है। वह निरंतर सब जगह फैला हुआ है अतः उसके बिना कोई भी जगह रिक्त नहीं है। अर्थात् वह कहीं आता जाता नहीं है।

विवेचन :

१,२) श्रीसमर्थजी ने पिछले श्लोकों में अभिप्रेत प्रश्नों का यहाँ उत्तर दिया है कि प्रभु आकाश की भांति सर्व व्यापक है। उत्तर का भावार्थ कुछ इस प्रकार है - कुम्हार घड़े बनाता है। उन छोटे बड़े सभी घड़ों में आकाश व्याप्त है। वह आकाश पहले से ही वहाँ था। उसे कहीं से लाकर घड़ों में भरना नहीं पड़ा। उन घड़ों में से कुछ टूट गए तो भी आकाश अपनी जगह बना रहेगा। उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होगा। उसी प्रकार परमात्मा का स्वरूप अनंत फैला हुआ है। उसमें प्राणियों के देह उत्पन्न होते रहते हैं। देह आए और गए तो भी परमात्मा के स्वरूप में कुछ अन्तर नहीं होता।

३,४) ज्ञानावस्था में अज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रहता। अतः ज्ञानी पुरुष को समस्त विश्व, उसका सब दृश्य-विस्तार परमात्मा के स्वरूप जैसा ही दिखाई देता है। उसे प्रतीत होता है कि सच्चिदानंद ब्रह्म सर्व व्याप्त है। आनंद होना, न होना या आनंद आना फिर जाना ऐसा कुछ भी नहीं। श्वास प्रश्वास या शरीर के भीतर चलने वाली क्रियाएं अपने आप सारे समय चलती रहती हैं। ध्यान दो तो प्रतीत होती हैं, न दो तो नहीं समान ! अज्ञानावस्था में कुछ ऐसा ही होता है। पंचमहाभूतों का बना विश्व, परमात्मा के स्वरूप पर अज्ञान का आच्छादन डालता है। यत्न पूर्वक आवरण हटाने से परमात्मा की अनुभूति आती है अन्यथा नहीं ! संसार का कोई कोना ऐसा नहीं जहाँ प्रभु न हो। मानो तो सब जगह, न मानो तो कहीं नहीं ! सारी परिस्थितियों में सारे समय सत् चित् आनन्द शाश्वत स्वरूप में विद्यमान है। स्वीकार करना या न करना साधक के हाथ में है।

नभीं वावरे जो अणुरेणु कांहीं ।
रिता ठाव या राघवेवीण नाहीं ।
तया पाहतां पाहतां तें चि जालें ।
तेथें लक्ष आलक्ष सर्वें बुडालें ॥१९६॥

आकाश में जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म जड़ द्रव्य कण रहते हैं उनमें भी ईश्वर का, परब्रह्म का स्वरूप व्याप्त है। उस स्वरूप के बिना खाली जगह कहीं भी नहीं है। उस स्वरूप को देखने का अभ्यास करें तो देखनेवाला उस स्वरूप में ढल जाता है। फिर वहाँ दृश्य और अदृश्य सब ही परमात्मा समान हो जाता है।

विवेचन :

१) विश्व की रचना में स्थूल तथा सूक्ष्म की श्रेणियाँ दिखाई देती हैं। वस्तुएँ जिस प्रकार कम - अधिक स्थूल होती हैं वैसे वे कम - अधिक सूक्ष्म भी होती हैं। वस्तु जितनी सूक्ष्म होती है उतनी ही वह अधिक व्यापक होती है। सब से सूक्ष्म वस्तु सबसे अधिक व्यापक होती है। परमात्मा सूक्ष्म की परमोच्च अभिव्यक्ति है। अतः वह सभी दृश्य तथा अदृश्य वस्तुओं में व्याप्त है।

२) जिस प्रकार सागर का कोई कोना जहाँ पानी न हो, आकाश का कोई कोना जहाँ आकाश न हो संभव नहीं वैसे ही ब्रह्मांड का कोई कोना जहाँ ईश्वर न हो संभव नहीं ! बालक माँ को पहचानता है। उसका माँ से लगाव होता है, स्नेह होता है, श्रद्धा होती है, विश्वास होता है। वह माँ पर पूरी तरह से निर्भर होता है। यह निर्भरता ही उसे माँ के पास खींच ले जाती है। माँ को देख वह आश्वस्त रहता है। साधक भी जानता है कि दुनिया का कोई कोना ऐसा नहीं जहाँ प्रभु नहीं। अतः वह भी सदा आश्वस्त रहता है।

३, ४) परमात्मा के स्वरूप को देखना है तो देखनेवाला उसके जैसा सूक्ष्म और व्यापक होना आवश्यक है। देखनेवाला जितना व्यापक होगा उतना ही उसे परमात्मा के स्वरूप का आकलन होगा। उसके भिन्न जीवत्व का 'अहं' का अस्त होकर वहाँ शिवता आएगी। और शिवता का अस्त होने पर सभी दृश्य अदृश्य का लय होकर केवल आत्मस्वरूप शेष रहेगा। "मैं देह हूँ" यह भावना नष्ट होकर "मैं ब्रह्म हूँ" इस भावना का उदय होगा। और अन्त में वह भाव भी अंतर्धान, लुप्त हो जाएगा।

नभासारिखे रूप या राघवाचें ।
मनीं चिंतिता मूळ तूटे भवाचें ।
तयां पाहतां देहबुद्धि उरेना ।
सदा सर्वदा आर्त पोटीं पुरेना ॥१९७॥

भवाचे = दृश्य विश्व सत्य है यह भावना, आर्त = इच्छा = तृप्ति

परमात्मा का स्वरूप आकाश के समान सर्वव्यापी है। उसका निरंतर चिंतन करने से दृश्य विश्व की सत्यता का भ्रम नष्ट होता है। प्रभु-दर्शन से देहबुद्धि शेष नहीं रहती। और जब प्रभु - दर्शन की प्यास उठे तो फिर बुझती ही नहीं, प्रभु - दर्शन की तृप्ति होती ही नहीं।

विवेचन :

१) राघव यानि ईश्वर का स्वरूप नभ के समान अनंत, अलिप्त, निर्गुण तथा निराकार है। आकाश हर तरह के हर आकार के रूप रंग के घट में समा सकता है और फिर भी अपना अस्तित्व नहीं बदलता। उसी प्रकार पूजा का स्वरूप कितना भी निराला हो, भाषा अलग हो, अर्चना की पद्धतियाँ अलग हों, विकार दूर करने में ईश्वर समान रूप से मदद करता है।

२) हमारी आँखें जब कोई वस्तु देखती हैं तो हमारे मन में उस वस्तु का आकार बस जाता है। अर्थात् जिस वस्तु का सतत मनन चिंतन होता है उस वस्तु का दृढ़ आकार मन में समा जाता है। मन से निरंतर प्रभु - स्वरूप का चिंतन करने पर मन को वही रूप प्राप्त होता है। मन भी अति व्यापक और सूक्ष्म बनता है। फिर दृश्य की सत्यता का भ्रम आप ही नष्ट हो जाता है।

३) अटूट श्रद्धा से देह की चारदीवारी लांघ कर जब मन बाहर निकलता है तभी वह ईश्वर के सत्य स्वरूप को पहचानता है और उससे जुड़ जाता है। अतः "मैं देह हूँ" यह भावना फिर शेष नहीं रहती। देहबुद्धि की कक्षा में आने वाले सुखों की नश्वरता स्पष्ट होने से मन उनसे ऊब जाता है।

४) परमात्मा जैसा अनंत है वैसे ही उसका आनंद भी अनंत एवं असीम है। ईश्वर प्राप्ति का श्रेष्ठ एवं शाश्वत आनंद, भक्त ईश्वर से तदाकार, तद्रूप होकर अनुभव करता है। एकरूपता के कारण सत् चित् आनन्द से मन कभी ऊबता नहीं। भक्त के आनंद की उत्कटता का रंग इतना गहरा होता है कि आनंद रस में तल्लीन होने का बोध ही शेष नहीं रहता।

नभें व्यापिलें सर्व सृष्टीस आहे ।
रघूनाथेका ऊपमा ते न साहे ।
दुजेवीण जो तो चि तो हा स्वभावे ।
तया व्यापकु व्यर्थ कैसे म्हणावें ॥१९८॥

ऊपमा = उपमा, स्वभावे = सहजता से, दुजेवीण = द्वैतरहित

यह सच है कि आकाश ने सारे विश्व को व्याप्त किया है । परंतु परमात्मा का स्वरूप आकाश से भी निराला है । अतः आकाश की उपमा ईश्वर के लिए बहुत सही नहीं है । जिसके पास जरा भी द्वैत नहीं है ऐसा ईश्वर सहज और सरल है । उसने किसी दूसरे पर अपना विस्तार नहीं फैलाया । इस कारण वह व्यापक है यह कहना व्यर्थ है ।

विवेचन :

१) आकाश का विस्तार पृथ्वी की तुलना में अधिक है । अतः कह सकते हैं कि वह सारी सृष्टि पर छाया है या उसने सारी सृष्टि को व्याप्त किया है । व्यापकता सापेक्ष होती है । इस कथन में एक भाव है कि वह आकुंचित नहीं है और यह भाव भी है कि वह अपने से अलग किसी दूसरी वस्तु को व्यापता है । व्यापकता की कल्पना में इस तरह के दोहरे संबंध का संदर्भ लेना पड़ता है ।

२) ईश्वर सब जगह एकरूप से अस्तित्व में है । अतः व्योम की उपमा ईश्वर का वर्णन करने के लिए सर्वोचित नहीं है । अभी तक परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए वह व्यापक है ऐसा पुनः पुनः कहा गया है । परंतु यह कथन सदोष है ।

३,४) श्रीसमर्थजी यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं कि व्योम ने विश्व को घेरा है ऐसा कहते समय व्योम और विश्व दो अलग अस्तित्व हुए । परंतु ईश्वर आकाश जैसा है यह कहना पूर्ण सत्य नहीं है । परमात्मा के स्वरूप में द्वैत के लिए कोई स्थान ही नहीं है । एक ही एक स्वरूप सब जगह फैला है, उस स्वरूप से अलग कुछ भी नहीं है और अगर है तो फिर सिर्फ आभास मात्र है । अतएव यह सत्य स्वरूप दूसरे रूप को व्याप्त करता है ऐसा कहना योग्य नहीं है या यूँ कहें कि यह कल्पना सत्य की कसौटी पर खरी नहीं उतरती ! अतः ईश्वर को व्यापक विशेषण सर्वोचित नहीं है ।

अती जीर्ण विस्तीर्ण तें रूप आहे ।
तेथे तर्क संपर्क तो ही न साहे ।
अती गूढ तें दृढ तत्काळ सोपें ।
दुजेवीण जें खूण स्वामी प्रतापें ॥१९९॥

अति जीर्ण = अति पुरातन, विस्तीर्ण = विस्तृत, संपर्क = स्पर्श, गूढ = रहस्यमय, दृढ = स्थिर, स्वामी प्रताप = सद्गुरु की कृपा

परमात्मा का स्वरूप अति पुरातन एवं अति विशाल है । हमारी तर्कबुद्धि की पहुँच वहाँ तक नहीं हो सकती । वैसे ही वह स्वरूप अति रहस्यमय, गुप्त तथा स्थिर है । परंतु उसके पास द्वैत भाव नहीं है यह संकेत गुरुकृपा से प्राप्त होने पर वह स्वरूप तत्काल सुलभ स्पष्ट होता है ।

विवेचन :

१,२) मनुष्य मन से चाहे जितना प्रयत्न करे, अन्त में उसे अपना अनुभव बताने के लिए स्थल एवं काल की भाषा का उपयोग करना पड़ता है । जिस परमात्मा के स्वरूप को व्यापक कहना भी उचित नहीं है उसका वर्णन करते समय श्रीसमर्थजी को पुरातन जैसे कालवाचक और विशाल जैसे क्षेत्रवाचक शब्दों का प्रयोग करना पड़ा । दृश्य के क्षेत्र में विश्वास से विचरनेवाली मानवीय तर्कबुद्धि परमात्मा के स्वरूप वर्णन के विषय में निरर्थक एवं असत्य सिद्ध होती है । वह उसका सहज प्राप्य उपलब्धि क्षेत्र ही नहीं है । अन्त में बुद्धि ने यही जाना कि परमात्मा का आकलन तर्क के परे है ।

३,४) स्थल काल की मर्यादा को पीछे छोड़नेवाला बुद्धि की कक्षा के परे रहनेवाला और सचमुच ही जो रहस्यमय परमात्मा का स्वरूप है उसका अनुभव होना कठिन ही है । हजारों मनुष्यों में बिरला मनुष्य ही उसका दर्शन पा सकता है यह बात मिथ्या नहीं है । परंतु हमारी विचार शक्ति को कठिन मालूम होने वाले उस रहस्यमय स्वरूप की एक सुलभ पहचान है । उस पवित्र स्वरूप में कोई भी द्वैतभाव नहीं है । उससे तादात्म्य स्थापित होने पर उसका अनुभव होता है । यह पहचान सद्गुरु ही समझा सकते हैं, उसका विश्वास दिला सकते हैं और उसका अनुभव भी करा सकते हैं । यह पहचान जिसे भी मिल जाती है, उसे परमात्मा का स्वरूप दर्शन अति सुलभ हो जाता है ।

कळे ना कळे रूप तें ज्ञान होता ।
तेथे आटली सर्वसाक्षी अवस्था ।
मना उन्मनीं शब्द कुंठीत राहे ।
तो गे तो चि तो राम सर्वत्र पाहे ॥२००॥

आटणें = नष्ट होना, सर्वसाक्षी = ईश्वर रूप, उन्मनी = उदासीन

ज्ञान होने पर उस परमात्मा के स्वरूप का बोध होता है, उसका सही आकलन होता है । फिर सर्वसाक्षीत्व की अवस्था ही समाप्त हो जाती है । वृत्ति विरक्त तथा उदासीन बनती है और शब्द मूक एवं निरर्थक प्रतीत होते हैं । तत्पश्चात् एक ईश्वर के सिवा अन्य किसी का अनुभव नहीं होता ।

विवेचन :

१) परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होने का भी एक सामान्य क्रम है । प्रथम हमारा ज्ञान सार्थक न होकर विपरीत ज्ञान है इसका स्पष्ट बोध होता है । फिर वह विपरीत ज्ञान समाप्त होकर अज्ञान सामने आता है । “मैं देह ही हूँ” यह विपरीत ज्ञान है । मैं देह ही हूँ यह भावना सच नहीं है इसका विश्वास होता है । परंतु मैं कौन हूँ यह समझ में नहीं आता । साधना करते करते, अज्ञान की निवृत्ति होने से केवल ज्ञान ही शेष रहता है । अर्थात् मैं देह नहीं बल्कि मैं आत्मा ही हूँ इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है ।

२) अज्ञान है तब तक जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएं अदल बदल कर आती हैं । ज्ञान होने के पश्चात् एक चौथी अवस्था आती है जिसे तुर्या अवस्था कहते हैं । इस अवस्था में ‘मैं ब्रह्म हूँ’ ऐसा भाव रहता है । मैं समक्ष विश्व का साक्षी हूँ ऐसा विश्वव्यापी ज्ञान देनेवाली यह तुर्यावस्था ज्ञान का सच्चा ऐश्वर्य है । आगे साधक की यह अवस्था भी लुप्त होती है ।

३,४) अज्ञान की निवृत्ति के पश्चात् ज्ञान का उदय होता है । सर्वसाक्षी अवस्था में जो कुछ द्वैत शेष रहता है, साधक की पारमार्थिक प्रगति के अगले चरण में वह भी जाता रहता है और वाणी मौन धारण करती है । मन की उदासीन वृत्ति में सर्वसाक्षीत्व घुलकर, लुप्त होकर परमात्मा के स्वरूप से मिलन होता है । इस आनंद यात्रा में एक परमात्मबोध के सिवा अन्य कोई अनुभव नहीं होता । इसे श्रीसमर्थजी सर्वत्र रामदर्शन होना कहते हैं ।

कदा वोळखी माजी दूजें दिसेना ।
मनीं मानसीं द्वैत कांहीं वसेना ।
बहूतां दिसां आपुली भेटि जाली ।
विदेहीपणें सर्व काया निवाली ॥२०१॥

वोळख = परिचय, मनीं मानसीं = मन में, दिसां = बहुत दिनों के बाद, काया = शरीर, विदेहीपणें = देह का भान नष्ट करके

एक परमात्मा के स्वरूप के सिवा अन्य कोई बोध नहीं ! भूल कर भी मन में द्वैतभावना उदित नहीं होती । अनुभव होता है मानो बहुत दिनों के पश्चात्, बहुत जन्मों के बाद, साधक की प्रभु से भेंट हुई । अतः देहबोध नष्ट होकर साधक विकार मुक्त, शांत एवं प्रसन्नचित्त प्रतीत होता है ।

विवेचन :

१,२) साधना करते करते एक समय ऐसा आता है जब साधक के स्वभाव में आमूलाग्र परिवर्तन दिखाई देने लगता है । उसकी बुद्धि जो पहले केवल दृश्य ग्रहण करती थी उस में सम्पूर्ण परिवर्तन होकर अब वह एक परमात्मा के स्वरूप के सिवा अन्य कुछ जानती ही नहीं । जिस प्रकार समुद्र में पानी से लहर ऊपर आती है, वह पानी की ही बनी है और पुनः पानी में ही लुप्त होती है, उसी प्रकार इस ज्ञाताभाव से परमात्मा ही उदित होता है । ज्ञेयपन से परमात्मा ही जाना जाता है और उत्पन्न हुआ ज्ञान ईश्वररूप होकर कार्यरत होता है । इस प्रकार के जीवनव्यवहार में मन को परमात्मा के सिवा अन्य कुछ ज्ञात नहीं होता । अनुभव की परिसीमा यहाँ पर ही होती है । यहाँ मोक्ष निरर्थक होता है । केवल सम्पूर्ण समाधान ही शेष रहता है ।

३,४) यह समाधान एवं आश्वासन प्राप्त करने के लिए जीव केवल एक जन्म ही नहीं, अनेक जन्म तड़पता है । या यूँ कहें कि अज्ञानावस्था में बिताया हुआ समय बहुत लम्बा प्रतीत होता है । सामान्य मनुष्य को यह अनुभव अनेक बार होता है कि जब वह किसी से मिलने को आतुर है तो क्षण भर का विलम्ब भी युगों समान लगता है ! साधना के अन्तिम चरण में द्वैतभाव हटने पर स्वस्वरूप के दर्शन होने पर जीव आनंद विभोर हो जाता है । इस अवस्था में देह की विस्मृति रहती है । आनंद का उल्लास, आवेग कम होने पर उसका मन व शरीर समाधान रूप हो जाता है ।

मना गूज रे तूज हें प्राप्त जालें ।
परी अंतरीं पाहिजे येत्ल केलें ।
सदा श्रवणें पाविजे निश्चयासी ।
धरीं सज्जन संगति धन्य होसी ॥२०२॥

गूज = रहस्य

रे मन ! परमात्मा के दर्शन का यह गूढ़ ज्ञान तुझे प्राप्त हुआ है । परंतु उसकी अनुभूति कायम रखने के लिए तुझे अंतःकरण में, मन में निरंतर साधना करनी चाहिए । निरंतर श्रवण करने से निश्चय बना रहता है । अतः रे मन नित्य संतों की संगति कर । उसीसे तुम्हारा जीवन धन्य होगा !

विवेचन :

१) दृश्य का ज्ञान और अतीन्द्रिय आत्मा का ज्ञान इनमें अंतर होता है । दृश्य का ज्ञान वाणी द्वारा, शब्दों द्वारा वर्णन कर सकते हैं । आत्मा का ज्ञान वाणी का विषय हो ही नहीं सकता । परंतु जन हितार्थ संतों ने आत्मज्ञान जितना हो सके उतना शब्दों में पिरोकर हमारे सामने रखा । 'मनोपदेश' (मनाचे श्लोक) इसका उत्तम उदाहरण है । आत्मज्ञान का रहस्य हमें प्राप्त हुआ इसमें जरा भी संदेह नहीं ।

२) परंतु संतों के लिखे हुए ग्रंथ पढ़ने मात्र से या उनके पारायण मात्र से या केवल चिकित्सा या वादविवाद करके आत्मज्ञान पल्ले नहीं पड़ता । उसके लिए अभ्यास अति आवश्यक है । दृश्य ज्ञान के साधन में एक मूलभूत अंतर यह है कि दृश्य-ज्ञान प्राप्त करनेवाला मनोज्ञान के व्यवहार में जैसा है वैसा ही रहता है । परंतु आत्मज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न में ज्ञान प्राप्त करने वाले के मन में पूर्णतः परिवर्तन करना पड़ता है । अतः आत्मज्ञान हेतु किए हुए प्रयत्नों में अंतरंग के सुधार की ओर नित्य ध्यान देना आवश्यक है ।

३,४) ज्ञान प्राप्ति के लिए बहुत यत्न आवश्यक हैं । उसके लिए धैर्य एवं लम्बे समय तक प्रयत्न करने की आवश्यकता है । धैर्य के लिए मन का निश्चय परम आवश्यक है । मन के दृढ़ निश्चय के लिए सतत सद्विचार श्रवण, मनन अति आवश्यक है । संत-संगति में उत्तम श्रवण होता है । अतः संत-संगति से अंत में आत्मज्ञान प्राप्त होता है और मनुष्य धन्य हो जाता है !

मना सर्व ही संग सोडूनि द्यावा ।
अती आदरें सज्जनाचा धरावा ।
जयाचेनि संगे महां दुःख भंगे ।
जनीं साधनेंवीण सन्मार्ग लागे ॥२०३॥

संग = संगति, महादुःख = त्रिविधताप से होनेवाला दुःख

साधनेवीण = साधन प्रयास के बिना, सन्मार्ग = आत्मज्ञान का मार्ग

रे मन ! जीवन में अन्य सब संगति छोड़ दो । सर्व आसक्ति का त्याग करो और मनःपूर्वक आदर से संत संगति करो । सज्जन संगति से जीवन के सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं और साधन के महाप्रयास के बिना सन्मार्ग प्राप्त होता है, जिससे प्रभु-दर्शन का मार्ग सुलभ हो जाता है ।

विवेचन :

१,२) मनुष्यों की संगति मानवीय जीवन का बहुत बड़ा संयोजक है । उसका प्रभाव हर एक व्यक्ति पर होता है । अतएव आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए संत संगति का उपयोग करना चाहिए ऐसा श्रीसमर्थजी का अनुरोध है । व्यवहार में अपने रक्त संबंधियों या मदद करने वालों की संगति को जितना महत्व हम देते हैं उससे अधिक महत्व संत संगति को देना चाहिए । व्यवहार के अंतर्गत बनाई संगति में दोनों पक्ष स्वार्थी होते हैं । संत संगति में भले हम स्वार्थी होते हैं फिर भी संत अत्यंत निःस्वार्थी होते हैं । अतः हम चाहे या न चाहें, संत-संगति का हमारे जीवन पर उत्तम परिणाम होता ही है ।

३,४) संत तो आत्मशक्ति से परिपूर्ण मानवयंत्र हैं । उनके सहवास में रहने से उनकी आत्मशक्ति कुछ मात्रा में हमारे अन्दर भी प्रवेश करती है । मन परिवर्तन की साधना हेतु इस शक्ति का उपयोग कर कम प्रयास से ही अपने विकार वश में आ जाते हैं और मन निर्मल होने में आसानी होती है । आत्मानुसंधान की कला का साध्य होना संत-संगति का सबसे बड़ा परिणाम और सबसे बड़ी उपलब्धि है । सत्पुरुष स्नेहपूर्ण, वत्सल, दयालु होते हैं । साथ ही प्रसंग आने पर अपने अधिकार से साम, दाम, दण्ड, भेद आदि नीतियों से साधक का कल्याण करते हैं । जिन्हें संत संगति का लाभ नहीं होता उन्हें आत्मानुसंधान कला की सिद्धि प्राप्त होने के लिए, अपने निश्चय पर अडिग रहने के लिए बहुत साधना करने की आवश्यकता पड़ती है ।

मना संग हा सर्व संगस तोडी ।
मना संग हा मोक्ष तत्काळ जोडी ।
मना संग हा साधका सीघ्र सोडी ।
मना संग हा द्वैत निःशेष मोडी ॥२०४॥

रे मन, संत-संगति अन्य अनावश्यक संगति, आसक्ति मिटाती है। सत्संगति से त्वरित मोक्ष प्राप्ती होती है, सत्संगति से साधक को अपने अहम् से छुटकारा मिलता है। सत्संग से द्वैतभाव संपूर्णरूप से नष्ट होता है।

विवेचन :

१) संत के सहवास में “मैं देह हूँ” यह भ्रम क्षीण होने लगता है। वह क्षीण होने पर दृश्य व्यक्तियों और दृश्य वस्तुओं में अटका हुआ मन अपने आप ही वहाँ से हट जाता है। इस तरह से आसक्ति मिटने पर अनावश्यक मोह के सभी बंधन टूट जाते हैं और मनुष्य मुक्त हो जाता है।

२) संत संगति अन्य कुप्रभावी संगतियों का विनाश करने में उसी प्रकार सक्षम है जैसे डॉक्टर के हाथ से लिया हुआ सोमल विष प्राणदायी सिद्ध होता है ! कोई नटखट कहेगा कि आसक्ति छोड़ने की कहते हो और सज्जनों का संग करने को कहते हो तो क्या वह मोह नहीं। ऐसे में साधक को ध्यान रखना चाहिए कि यह सत्संग रेलगाड़ी की भांति सिर्फ गंतव्य तक साथ देता है। सत्संग के सहारे मोक्ष रूपी गंतव्य तक पहुँचने के पश्चात हमें अन्य किसी सहारे की आवश्यकता नहीं रहती !

३) दृश्य के जंजाल में फँसे हुए साधक को केवल अपने प्रयत्नों के बल पर छुटकारा पाने के लिए बहुत अधिक समय लगता है। सन्त-संगति से उसे आत्मशक्ति का सहारा एवं आश्वासन प्राप्त होता है। उसके अद्भुत प्रभाव से साधक शीघ्र ही अपना ध्येय साध्य करता है। आत्मज्ञान होने के पश्चात वहाँ निश्चयपूर्वक स्थिर होने के लिए संत-संगति ही फिर से काम आती है।

४) सत्संगति से परमात्मस्वरूप में पूर्णतः तन्मय होकर जब अहं का प्रभाव मन पर से उतर जाता है तभी द्वैत का बोधभ्रम पूर्णतया नष्ट होता है। इस प्रकार आरंभ से अंत तक सत्संगति मनुष्य की रक्षा करती है, उसका प्रश्रय बनती है, उसे प्रभुलीन कराती है और फिर उसे आत्मज्ञान कराती है।

मनाची शतें ऐकतां दोष जाती ।
मतीमंद ते साधना योग्य होती ।
चढे ज्ञान वैराग्य सामर्थ्य आंगीं ।
म्हणे दास विश्वासतां मुक्ति भोगी ॥२०५॥

मनाची शतें = “मनाचे श्लोक” के दो सौ पाँच श्लोक, विश्वासतां = श्रद्धा रखने से

ये “मनाचे श्लोक” के दो सौ पाँच श्लोक श्रवण करने से हम दोषमुक्त हो जाएंगे। अज्ञानी मतिमंद भी साधन करने योग्य बन जाएंगे। सभी को ज्ञान वैराग्य तथा सामर्थ्य प्राप्त होगा। श्रीसमर्थजी कहते हैं कि “मनाचे श्लोक” का श्रद्धापूर्वक श्रवण करने से भवबन्धन से निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त होगी।

विवेचन :

१, २) श्रीसमर्थजी जैसे अलौकिक, ब्रह्मज्ञानी ग्रंथकार पाठकों का उद्धार हो इस उद्येश्य से ही लिखते हैं। “मनाचे श्लोक” के श्रवण और श्रवणानुरूप आचरण से पाठकों के जीवन में आमूलाग्र परिवर्तन आता है। चंचलता, संदेह, क्रोध, विषयासक्ति इत्यादि सभी विकार दौर्बल्य दूर होकर मतिमंद पाठक भी आत्मज्ञान का साधक बनने योग्य हो जाता है।

३, ४) जो आत्मज्ञानी नहीं है उसके आंतरिक जीवन में अज्ञान, अपूर्णता, विफलता, आसक्ति, दुर्बलता तथा दुःख आदि का प्राबल्य रहता है। मनुष्य की पारमार्थिक प्रगति के लिए श्रद्धा का होना अति आवश्यक है। श्रद्धा से किया हुआ ग्रन्थ पठन प्रभु का अनुसंधान रखने की कला में निपुणता दिलाता है जिससे साधक को आत्मा का, प्रभु का स्पर्श प्राप्त होता है। आत्मानुभव के कारण वह ज्ञान, वैराग्य तथा आत्मसामर्थ्य इन त्रिगुणों से पूर्ण हो जाता है। उसका अज्ञान, आसक्ति और दुःख दूर होकर वह सांसारिक जीवन कलह से मुक्त होकर सम्पूर्ण स्वतंत्रता का अनुभव करता है। सद्बिचार और सदाचरण से साधक का शांतिपूर्ण जीवन उदात्त ध्येय के तेज से आलोकित हो जाता है और वह अन्त में मोक्ष को प्राप्त करता है।

॥ जय जय रघुवीर समर्थ ॥

बोध-सूचि

- गणेश शारदा - वंदन - (१)
भक्ति एवं व्यवहार - (२, ३)
अध्यात्मानुकूल नैतिक जीवन - (४ - १०)
“ईश्वर हमारे निकट है” इस भावना का अभ्यास (२८-३७)
मन से प्रभु के सान्निध्य में रहना - (३८-४२)
प्रभु सान्निध्य के लिए कैसा बर्ताव करें - (४३-४६)
प्रभु की पहचान हुए व्यक्ति का वर्णन - (४७-५६)
भक्ति निष्काम होनी चाहिए - (५७ - ६०)
विवाद छोड़कर ईश्वर-भक्ति करनी चाहिए - (६१-६६)
प्रभात के शान्त समय में प्रभु चिंतन का
- अभ्यास करना चाहिए - (६७-७६)
प्रभु की पावन बनाने वाली भावना - (७७-८०)
सब साधनाओं का सार नाम ही है । - (८१-१०१)
विवेकपूर्ण सदाचरण का अभ्यास - (१०२ - १०७)
तत्त्वानुकूल संवाद हितकारी होता है - (१०८ - ११५)
भक्ताभिमानी ईश्वर कभी भक्तों की उपेक्षा नहीं करता - (११६-१२६)
रे मन ! सज्जन संग सदा कर - (१२७-१३५)
अनादि आत्मस्वरूप अहम् से नहीं जाना जाता - (१३७-१४१)
विवेक से सदैव आत्मस्वरूप में रमना - (१४२-१४५)
रे मन खोजे सदा अनंत - (१४६-१५०)
निज को ज्ञानी कहे, वह मूर्ख है - (१५१-१५८)
अहंकार से सब दुख होते - (१५९-१६२)
सज्जन संग सदा कर ल - (१६३-१६७)
पाए विवेक से प्रभु दर्शन - (१७०-१७४)

- अनन्य प्रभु की खोज करें - (१७५-१७९)
सद्गुरु किसे कहें । - (१८०-१८३)
हृदय बसे, हो आत्मस्वरूप - (१८४-१८६)
अहम् त्याग कर होवे तृप्त - (१८७-१९३)
एक कूट प्रश्न और उसका उत्तर - (१९४-१९९)
प्रभु - स्वरूप की अनुभूति - (२००-२०१)
नित्य श्रवण से मिले सफलता, सद् संगति है -
सुखद सदा - (२०२-२०४)
फलश्रुति - (२०५)

